मान लेने के लिये क्या प्रमाण है? जब 'ऐल' नाम से कोई वंश ही प्रचलित नहीं था, तो खारवेल अपने लेख में उसका निर्देश कैसे कर सकते थे?

"हिमवन्त-थेरावलीगत खारवेल-विषयक वृत्तान्त को अप्रामाणिक ठहराने के लिये बाबू कामताप्रसाद जी जैन ने अपनी तरफ से जो जो दलीलें पेश की थीं, उनका संक्षिप्त उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। अब हमारे मत से तो यह बात निश्चित हो गई है कि 'हिमवंत-थेरावली' कोई आधुनिक रचना नहीं है, किन्तु सैकड़ों वर्षों का पुराना निबन्ध है। इसकी मूल प्रति कच्छमांडवी के पुस्तकभण्डार से हमें पण्डित सुखलाल जी संघवी के द्वारा अभी मिली है, जिसका विस्तृत-अवलोकन कभी मौका मिलने पर लिखा जायगा, पर इतना तो यहाँ कह देना प्रासंगिक होगा कि थेरावली पुराना ग्रन्थ है, यही नहीं वह एक अति महत्त्व का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। अन्त में इसको हिमवंत-कृत लिखा है, पर अभी हम यह निश्चित नहीं कह सकते हैं कि यह हिमवंतकृत थेरावली ही है या हिमवंत-थेरावली का सार? हिमवंत-थेरावली-नामक प्राचीन थेरावली श्वेताम्बरजैन-साहित्य में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ होने का प्रमाण हमें अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग की विक्रम संवत् १४३८ में निर्मित पट्टावली में मिलता है।[१२९] यही नहीं, थेरावली की अनेक अप्रसिद्ध बातों का समर्थन भी इस पट्टावली से होता है।[१३०]

"हमें जो थेरावली की पुस्तक हस्तगत हुई है, वह अञ्चलगच्छ-पट्टावली की पुस्तक के प्रथम के ९ पत्रों में लिखी हुई है और इसके बाद अञ्चलगच्छ की बृहत्पट्टावली लिखी हुई है, यह संपूर्ण प्रति संवत् १८९३ में लेखक रामचन्द्र द्वारा नागोर में लिखी गई थी, यह बात इस पुस्तक के अन्त में दिये हुए निम्नलिखित वचनों से जानी जाती है—

---

१२९. "बलिस्सह स्थविर के प्रसंग में पट्टावलीकार ने एक जगह हिमवंत-थेरावली का स्पष्ट नामोल्लेख तक कर दिया है, जो इस प्रकार है—"**बलिस्सहमुनिवराश्च पश्चात् स्वपरिवारयुता-स्स्थविरकल्पमभजन्। परं तेषां शाखा पृथगेव वाचकगणाख्यया प्रसिद्धा जाता। तत्परिवारश्च पूर्वमेवार्यहिमवद्विरचितस्थविरावल्यां कथितोऽस्ति ततोऽवसेयः।**" (अञ्चलगच्छपट्टावली / १५-२) लेखक।
["यह उल्लेख पट्टावली में कहीं प्रक्षिप्त तो नहीं, इसे तथा और भी दूसरे उल्लेखों को खास तौर से जाँचने की जरूरत है। क्योंकि थेरावली और पट्टावली दोनों के प्रकाशक महाशय एक हैं और उनकी स्थिति पं० सुखलाल जी से बहुत कुछ संदिग्ध मालूम हुई है।" सम्पादक।] अनेकान्त / वर्ष १ / किरण ६,७ पृ. ३५०।

१३०. "आचार्य भद्रबाहु और आर्यमहागिरि का कुमरगिरि पर स्वर्गवास होने का हिमवन्त-थेरावली में उल्लेख है और उसी बात का इस अञ्चलपट्टावली से भी समर्थन होता है। इसमें कई जगह कुमरगिरि और भिक्षुराज का नामोल्लेख भी है, जो हिमवन्त-थेरावली के वचनों का ही समर्थन कर रहा है।" लेखक।

श्री दिगम्बर जैन पवषाल...
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanj...

"संवत् १८९३ वर्षे मार्गसीर शुक्ल नवमी तिथौ नागोरनगरे लेखक साची-हरविप्रामचन्द्रेण लिखिता। चिरं नंदतु।"

"हिमवन्त-थेरावली के सम्बम्ध में हम यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे। इसकी विस्तृत आलोचना एक स्वतंत्र निबन्ध में हो सकती है, जो अधिक समय और विचारणा की अपेक्षा रखता है। यदि अनुकूलता प्राप्त हुई, तो इसके लिये भी अवश्य ही उद्योग किया जायगा।" **(लेख समाप्त)।**

६.६. **'अनेकान्त' के सम्पादक को लिखित**

मुनि जिनविजय जी का पत्र[१३१] और हिमवंत-थेरावली के जाली होने की सूचना

पटना, ता० १२/४/३०

"श्रीमान् बाबू जुगलकिशोर जी की सेवा में सादर जयजिनेन्द्र पूर्वक विदित हो कि मैं कुछ दिनों से इधर आया हुआ हूँ। अहमदाबाद से आते हुए रास्ते में एक दो रोज दिल्ली ठहर कर आपके साथ सत्समागम का लाभ उठाने की खास इच्छा थी, परन्तु संयोगवश वैसा न हो सका।

"यहाँ पर मित्रवर श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल से समागम हुआ और उन्होंने 'अनेकान्त' में आये हुए खारवेल के लेखों के विषय में चर्चा की, जिसमें खास तौर पर उस लेख के बारे में विशेष चर्चा हुई, जिसमें हिमवन्त-थेरावली के आधार पर कुछ बातें लिखी गई हैं। यह थेरावली अहमदाबाद में पण्डितप्रवर श्री सुखलाल जी के प्रबन्ध से हमारे पास आ गई थी और उसका हमने खूब सूक्ष्मता के साथ वाचन किया। **पढ़ने के साथ ही हमें वह सारा ही ग्रन्थ बनावटी मालूम हो गया और किसने और कब यह गढ़ डाला उसका भी कुछ हाल मालूम हो गया।** इन बातों के विशेष उल्लेख की मैं अभी आवश्यकता नहीं समझता। सिर्फ इतना ही कह देना उचित होगा कि हिमवन्त-थेरावली के कल्पक ने खारवेल के लेखवाली जो किताब हमारी (प्राचीन जैनलेखसंग्रह, प्रथम भाग) छपाई हुई है और जिसमें पं० भगवानलाल इन्द्र जी के पढ़े हुए लेख का पाठ और विवरण दिया गया है, उसी किताब को पढ़ कर उस पर से यह थेरावली का वर्णन बना लिया है। उस कल्पक को श्री जायसवाल जी के पाठ की कोई कल्पना नहीं हुई थी, इसलिये उस कल्पक

---

१३१. 'अनेकान्त'/ वर्ष १/ किरण ६-७/ वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि.सं. २४५६ / पृष्ठ ३५१-३५२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की थेरावली अप-टु-डेट नहीं बन सकी। खैर। ऐसी रीति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है, इससे इसमें हमें कोई आश्चर्य पाने की बात नहीं।

"आप जान कर प्रसन्न होंगे कि खारवेल के लेख का पुनर्वाचन हम दोनों—मैं और विद्यावारिधि जायसवाल जी—साथ मिल कर, हाल में फिर यहाँ पर बहुत परिश्रम के साथ कर रहे हैं। यहाँ पर पटने के म्यूजियम में इस लेख के सब साधन उपस्थित हैं। सरकार के आर्किओलाजिकल डिपार्टमेंट की तरफ से आज तक जो-जो प्रयत्न इस लेख के संशोधन और संरक्षण की दृष्टि से किये गये, उन सब का फलस्वरूप साहित्य यहाँ पर सुरक्षित है। श्रीमान् जायसवाल जी की अपने हाथ से ली हुई लेख की असली छापें, और पुराविदों की ली हुई प्रतिकृतियाँ और विलायती मिट्टी पर लिया हुआ अमूल्य कास्ट इत्यादि सब साधनों को सामने रखकर पाठ की वाचना की जा रही है। रोज ४-५ घंटे मैं, जायसवाल जी और कमैर म्यूजियम के क्युरेटर रायसाहिब घोष खड़े पैरों खारवेल की इस महालिपि के एक-एक अक्षर को बहुत तत्त्वावधान के साथ पढ़ रहे हैं। एक-एक पंक्ति को पढ़ने में कोई २-३ घंटे लगते हैं और किसी-किसी अक्षर पर पूरा सामायिक भी कर लिया जाता है। मेरा इरादा है कि यहाँ पर लेख की जो सामग्री प्रस्तुत है, उसे पूरा कर फिर खंडगिरि पर जा कर निश्चित किये हुए पाठ को प्रत्यक्ष शिलाक्षरों से भी मिलान कर लिया जाय। इसके लिये खास तौर पर गवर्नमेंट को लिखा जायगा और फिर गवर्नमेंट के प्रबंध से वहाँ पर जाया जायगा। शिला पर पढ़ने के लिये बड़ी कठिनाई है और बहुत बेढब जगह पर यह लेख खुदा हुआ कहते हैं। श्रीयुत जायसवाल जी कोई १२ वर्ष से इस लेख पर परिश्रम कर रहे हैं और उसी परिश्रम का यह फल है कि आज हम इस लेख के रहस्य और महत्त्व को इस तरह वास्तविक रूप में समझने के लिये उत्सुक हो रहे हैं।

"इसके साथ में श्री जायसवाल जी का नोट है। वह 'अनेकान्त' में छपने के लिये भेजा जा रहा है। आप चाहें तो मेरी यह चिट्ठी भी छाप सकते हैं। 'अनेकान्त' सुन्दर और सात्त्विक रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो इसके नाम को सर्वथा सार्थक बना रहा है। लौटते हुए यदि मौका मिला तो मिलने की पूरी इच्छा तो है ही।

भवदीय
जिनविजय"

६.७. 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ प्रेषित श्री जायसवाल जी का नोट

चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त-थेरावली[१३२]

लेखक : श्री० काशीप्रसाद जी जायसवाल

"मुनि श्री कल्याणविजय जी ने सत्यगवेषणाबुद्धि से गुजराती हिमवन्त-थेरावली से खारवेल का इतिहास दिया। इसमें साम्प्रदायिक आक्षेप की कोई जगह नहीं है, जैसा कि 'अनेकान्त' के सम्पादक जी ने विवेचना कर दी है।

"मेरे मन में हिमवन्त-थेरावली के विषय में बहुत सन्देह पैदा हुआ। श्री० कल्याणविजय जी के देखने में यह मूल पुस्तक अभी नहीं आई है। पर जिस भाण्डार में यह पोथी है, वहाँ से मेरे श्रद्धेय मित्र मुनि जिनविजय जी के पास आ गई है। **उन्होंने पोथी में खारवेल विषयक अंश प्रक्षिप्त पाया। इस समय मुनि जी पटने में ही हैं। अतः खारवेल का इतिहास थेरावली में प्रामाणिक नहीं, प्रक्षिप्त, आधुनिक और कल्पित है।**

"मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख (अनेकान्त पृ० १४२) से 'यापज्ञापक' शब्द का अर्थ साफ हो गया, जिसकी खोज मुझे बहुत दिनों से थी। कई वर्षों के अध्ययन से **यापज्ञावक** पाठ निश्चित किया गया था। पर अर्थ का पता नहीं लगता था। मैं मुनिजी का बहुत अनुगृहीत हूँ।

चैत्र शु० ११, वी० २४५६"[१३३]

इस प्रकार महाराज खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का यह प्रयास भी विफल हो गया। खारवेल के दिगम्बर होने का स्पष्ट प्रमाण यह है कि खण्डगिरि-उदयगिरि, जहाँ राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा आदि गुफाएँ बनवाई थीं, परम्परा से दिगम्बरजैन तीर्थ रहा है और उन गुफाओं में जितनी भी जिनप्रतिमाएँ उत्कीर्ण हुई हैं, सब नग्न हैं।

---

१३२. 'अनेकान्त' / वर्ष १ / किरण ६-७ / वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४५६ / पृष्ठ ३५२।

१३३. "वीरनिर्वाण संवत् के इस उल्लेख पर से, और भी लेखक महोदय के हाल के पत्रों में इसी संवत् को लिखा देख कर, ऐसा मालूम होता है कि 'अनेकान्त' की १ ली किरण में 'महावीर का समय' शीर्षक के नीचे जो इस संवत् की यथार्थता को सिद्ध किया गया है, उसे अब जायसवाल जी ने भी स्वीकार कर लिया है और इसी से आप अपने पत्रादिकों में उसका व्यवहार करने लगे हैं। अच्छा हो यदि जायसवाल जी इस विषय में अपना कोई स्पष्ट नोट देने की कृपा करें।" सम्पादक।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तृतीय प्रकरण

यापनीयसंघ का पूर्वनाम मूलसंघ नहीं

१

'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर

एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ (वर्तमान दिगम्बरजैन-संघ) और मूलसंघ पर्याय-वाची हैं। अन्तर केवल यह है कि 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम तो निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के युग से चला आ रहा है, किन्तु उसका 'मूलसंघ' नाम तब पड़ा, जब उससे मुनियों के एक वर्ग ने अलग होकर श्वेतपटसंघ की स्थापना कर ली। शिलालेखों में 'मूलसंघ' नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख ३७० ई० और ४२५ ई० के नोणमंगल-ताम्रपत्रलेखों में मिलता है। वे इस प्रकार हैं—

१. "श्रीमता माधववर्म्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे --- आचार्य्यवीरदेवस्य ---उपदेशनात् मृदुकोत्तूरविषये पेब्बोलल्-ग्रामे अर्हदायतनाय **मूलसंघानुष्ठिताय** महातटाकस्य अधस्तात् द्वादशखण्डुकावापमात्रक्षेत्रं च तोट्टक्षेत्रं च पटुक्षेत्रं च कुमारपुरग्रामश्च --- दत्तः।" (नोणमंगल-ताम्रपट्टिकालेख / क्र. ९० / ३७० ई. / जै. शि. सं. / मा. च. / भा.२)।

अनुवाद—"श्रीमान् माधववर्मा महाधिराज (द्वितीय) ने अपने कल्याण के लिए आचार्य वीरदेव के उपदेश से मृदुकोत्तूर-प्रदेश के पेब्बोलल् ग्राम में मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालय को द्वादश खण्डुकावाप-प्रमाण क्षेत्र (भूमि), तोट्टक्षेत्र, पटुक्षेत्र तथा कुमारपुर ग्राम दान किया।"

२. "श्रीमता कोङ्गणिवर्म्म-धर्म्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे --- स्वोपाध्यायस्य परमार्हतस्य विजयकीर्तेः --- उपदेशतः चन्द्रनन्द्याचार्य-प्रमुखेन **मूलसंघेनानुष्ठिताय** उरनूरार्हतायतनाय कोरिकुन्दविषये वेन्नैल्करनिग्रामः --- दत्तः।" (नोणमंगल-ताम्रपट्टिका-लेख / क्र. ९४ / ४२५ ई. / जै. शि. सं. / मा. च. / भा. २)।

अनुवाद—"श्रीमान् कोङ्गणिवर्मा महाधिराज (द्वितीय) ने आत्मकल्याण के लिए अपने गुरु परम जिनभक्त विजयकीर्ति के उपदेश से चन्द्रनन्दी आदि आचार्य-प्रधान मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूर के जिनालय को कोरिकुन्द-प्रदेश में वेन्नैल्करनि ग्राम प्रदान किया।"

इन अभिलेखों से प्रकट है कि एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ (वर्तमान दिगम्बर जैनसंघ) का पर्यायवाची 'मूलसंघ' शब्द ३७० ई० के पूर्व से प्रचलित था।

२

मुनि कल्याणविजय जी एवं डॉ० सागरमल जी का मत

किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने दिगम्बरजैन-परम्परा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए यह कथा गढ़ी है कि उसकी स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में दक्षिण भारत में की थी। ३७० ई० के उपर्युक्त ताम्रपत्रलेख में मूलसंघ का उल्लेख मिलने से उनकी यह कथा मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है। इसलिए उन्होंने इसकी मनगढ़न्तता पर आवरण डालने के लिए एक दूसरी यह कथा गढ़ी है कि मूलसंघ दिगम्बरसंघ का नाम नहीं था, अपितु यापनीयसंघ का नाम था।

द्वितीय अध्याय में मुनि कल्याणविजय जी का वह वक्तव्य उद्धृत किया गया है, जिसमें उन्होंने कल्पना की है कि बोटिक शिवभूति ने उत्तरभारत में अपने सम्प्रदाय का नाम 'मूलसंघ' रखा था, पर दक्षिण में जाने पर वह 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। डॉ० सागरमल जी ने भी मुनि जी की इस कपोलकल्पना का अनुसरण किया है, किन्तु उन्होंने माना है कि शिवभूति ने उत्तरभारत में अपने सम्प्रदाय का नाम **मूलगण** रखा था, किन्तु दक्षिण में पहुँचने पर पहले वह **मूलसंघ** नाम से प्रसिद्ध हुआ, पश्चात् उसे **यापनीय** नाम मिला। मान्य विद्वान् ने यापनीयसंघ को मूलसंघ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

''मूलसंघ प्रारम्भ में किस परम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया, इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम **मूलसंघ** के इतिहास को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में **नोणमंगल** की ताम्रपट्टिकाओं पर **मूलसंघानुष्ठिताय** एवं **मूलसंघेनानुष्ठिताय** ऐसे उल्लेख मिलते है। ये दोनों ताम्रपट्टिकायें क्रमशः लगभग ईस्वी सन् ३७० और ई० सन् ४२५ की मानी जाती हैं। किन्तु इनमें **निर्ग्रन्थ, कूर्चक, यापनीय** या **श्वेतपट** आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के **देवगिरि** और **हल्सी** के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपटमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थ शती के उत्तरार्ध में मिल जाता है, अतः अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थसंघ प्राचीन है और यापनीय, कूर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती हैं, फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थसंघ को मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्रबाहु (प्रथम)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था जो ईसापूर्व तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिलप्रदेश में पहुँचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैनसंघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा का विभाजन नहीं हुआ था, अतः ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुनः उन्हें अपने को मूलसंघी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वहाँ तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। **यह निर्ग्रन्थसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट संघ से पृथक् था, यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलेखों से सिद्ध है, क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थसंघ नाम सुप्रचलित था।** पुनः जब लगभग १०० वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रसिद्ध है, तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहता होगा, यह कल्पना निराधार है।

''अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है, जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो, यह बात पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में तब घटित हुई, जब लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थसंघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थसंघ अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था, यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अतः सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेलधारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो, क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेलधारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात् दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेलधारा ने उन्हें यापनीय कहा। डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने जो यह कल्पना की, कि दक्षिण में निर्ग्रन्थसंघ की स्थापना भद्रबाहु द्वितीय ने की (जै. शि. सं./मा. च./भा.३/प्रस्ता./पृ. २३) मुझे निराधार प्रतीत होती है, **दक्षिण भारत का निर्ग्रन्थसंघ तो भद्रबाहु-प्रथम की परम्परा का प्रतिनिधि है, चाहे भद्रबाहु प्रथम दक्षिण गये हों, या नहीं गये हों, किन्तु उनकी परम्परा ईसा पू० तीसरी शती में दक्षिण भारत में पहुँच चुकी थी, इसके अनेक प्रमाण भी हैं।** भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् लगभग द्वितीय शती में एक आर्यभद्र हुए हैं, जो निर्युक्तियों के कर्ता थे और सम्भवतः ये उत्तर भारत के अचेल पक्ष के समर्थक रहे थे, उनके नाम से भद्रान्वय प्रचलित हुआ, जिसका उल्लेख उदयगिरि (विदिशा) में मिलता है। मेरी दृष्टि में मूलगण, भद्रान्वय, आर्यकुल आदि

का सम्बन्ध इसी उत्तर भारत की अचेलधारा से है, जो आगे चलकर यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिण में पहुँचने पर यह धारा अपने को मूलगण या मूलसंघ कहने लगी। यह आगे चलकर श्रीवृक्षमूलगण, पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण आदि अनेक गणों में विभक्त हुई, फिर भी सबने अपने साथ मूलगण शब्द कायम रखा। जब इन विभिन्न मूलगणों को कोई एक संयुक्त नाम देने का प्रश्न आया, तो उन्हें मूलसंघ कहा गया। कई गणों द्वारा परवर्तीकाल में संघ नाम धारण करने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध हैं। पुनः यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इसी तथ्य का सूचक है कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है। अतः नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ यापनीयपरम्परा का ही पूर्वरूप है। **उत्तर भारत के निर्ग्रन्थसंघ की यह धारा जब पहले दक्षिण भारत में पहुँची तो मूलसंघ के नाम से अभिहित हुई और उसके लगभग १०० वर्ष पश्चात् इसे यापनीय नाम मिला।** हम यह भी देखते हैं कि उसे यापनीय नाम मिलते ही अभिलेखों से मूलसंघ नाम लुप्त हो जाता है और लगभग चार सौ पचास वर्षों तक हमें मूलसंघ का कहीं कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। नोणमंगल की ई० सन् ४२५ की ताम्र-पट्टिकाओं के पश्चात् कोन्नूर के ई० सन् ८६० के अभिलेख में पुनः मूलसंघ का उल्लेख देशीयगण के साथ मिलता है। ज्ञातव्य है कि इस अभिलेख में मूलसंघ के साथ देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है, किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले यह लेख ताम्रपट्टिका पर था, बाद में १२ वीं शती में इसमें कुछ अंश जोड़कर पत्थर पर अंकित करवाया गया, इस जुड़े हुए अंश में ही कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् से यापनीयगण और द्राविड़ आदि अन्य गण सभी अपने को मूलसंघीय कहते प्रतीत होते हैं।" (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृ० ६३२-६३३)।

३

यापनीयसंघ मूलसंघ नहीं : इसके प्रमाण

१. उक्त दोनों महानुभावों ने ऐसा एक भी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिससे यह सिद्ध होता हो कि शिवभूति ने सचेलाचेल-मुक्तिवादी सम्प्रदाय चलाया था और उसी का नाम पहले 'मूलसंघ' था और बाद में यापनीय नाम पड़ा। यह बात उन्होंने अपने मन से ही कल्पित कर ली है।

द्वितीय अध्याय में अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया गया है कि बोटिक शिवभूति ने किसी नये मत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु वह श्वेताम्बरमत छोड़कर सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति के विरोधी परम्परागत दिगम्बरमत

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(मूलसंघ या एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ) का अनुयायी बन गया था। इसलिए जब उसने किसी नये मत का प्रवर्तन ही नहीं किया था, तब उसके 'मूलसंघ' या 'यापनीयसंघ' के नाम से प्रसिद्ध होने की बात करना बन्ध्यापुत्र के नाम पर विवाद करना है।

यापनीयसंघ का उदय दक्षिण में ही हुआ था, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। अतः उसके उत्तर से दक्षिण में जाने की अवधारणा निरस्त हो जाती है। अतः यह अवधारणा भी निरस्त हो जाती है कि दक्षिण में जाने पर वह क्रमशः मूलसंघ और यापनीयसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पाँचवीं शती ई० के अभिलेखों में **यापनीयसंघ** नाम ही मिलता है। इससे सिद्ध है कि इस समय तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध था।

२. डॉ० सागरमल जी ने स्वीकार किया है कि "अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है, जिसमें कोई विभाजन हुआ हो।" (देखिये, पूर्वशीर्षक २) हम देखते हैं कि यापनीयसंघ में कोई विभाजन नहीं हुआ, अतः उससे किसी नये संघ की उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिए उसे स्वयं को मूलसंघ कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। यापनीयसंघ का उद्भव श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से हुआ था, अतः यापनीयसंघ की दृष्टि से श्वेताम्बरसंघ मूलसंघ कहला सकता था। किन्तु डॉक्टर सा० की मान्यता है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों संघ उत्तरभारतीय सचेलाचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ से निकले हैं, अतः उनके अनुसार श्वेताम्बरसंघ भी मूलसंघ नहीं कहला सकता। हाँ दोनों को जन्म देने वाला उपर्युक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ कहला सकता था, किन्तु वैसा कोई संघ था ही नहीं, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। इस प्रकार सिद्ध है कि आरम्भ में न तो यापनीयसंघ मूलसंघ कहलाता था, न श्वेताम्बरसंघ, न ही दोनों का तथाकथित जन्मदाता कपोलकल्पित सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ।

३. '**दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास**' नामक अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था, जिससे एकान्त-सचेलमार्गी नये संघ की उत्पत्ति हुई, जो 'श्वेतपटश्रमणसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नये संघ की उत्पत्ति से पुराने संघ को मूलसंघ कहने की आवश्यकता हो गई। जब ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने बारह हजार शिष्यों के साथ दक्षिण भारत गये, तब उनके निर्ग्रन्थश्रमणसंघ के साथ मूलसंघ विशेषण जुड़ चुका था। अतः दक्षिण भारत के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उनके संघ के लिए **निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ** और **मूलसंघ** दोनों नामों का प्रयोग

युक्तिसंगत है। एक ही संघ के दो नामों का होना असंभव नहीं है। **यापनीयसंघ** का भी अन्य नाम **गोप्यसंघ** था।

४. सचेलाचेल-मुक्तिवादी जैनसंघ को 'यापनीय' नाम दिगम्बरों (दक्षिणभारत की निर्ग्रन्थ अचेलधारा) ने दिया था, इसका उल्लेख दिगम्बर, श्वेताम्बर, वैदिक और बौद्ध किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में नहीं है, न किसी शिलालेख में है। अतः इसे दिगम्बरों के द्वारा दिया गया कहना कपोलकल्पना मात्र है। कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय अपने नाम के लिए दूसरों का मोहताज नहीं होता। वह स्वयं ही अपने सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक विशिष्टता प्रकट करने के लिए गहन चिन्तन-मनन के बाद अत्यन्त उपयुक्त नाम चुनता है। दूसरे लोग ईर्ष्या या द्वेषवश उसे किसी भी नाम से पुकारें, पर वह अपनी पहचान अपने ही द्वारा निर्धारित किये गये नाम से कराता है। 'यापनीयसंघ' नाम राजकीय शिलालेखों या ताम्रपत्रों में मिलता है, और **पाल्यकीर्ति शाकटायन** जैसे वैयाकरण ने अपने लिए **यापनीय-यतिग्रामाग्रणी** विशेषण का प्रयोग कर अपना महत्त्व प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है कि यापनीयों ने यह नाम अपने लिए बहुत सोच-समझकर चुना था और इस नाम से ही अपने संघ को प्रसिद्ध किया था। अतः इसे दिगम्बरों द्वारा दिया गया मानना सर्वथा असंगत प्रलाप है।

यापनीय नाम प्रचलित होने के विषय में डॉ० सागरमल जी ने मुनि कल्याणविजय जी का **पट्टावलीसारसंग्रह** (पृ.९१) में व्यक्त निम्नलिखित मत उद्धृत किया है—"यापनीय नाम पड़ने का खास कारण उनके गुरुवन्दन में आनेवाला **जावणिज्जाए** शब्द है। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बड़ेरों (ज्येष्ठ) को वन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ बोलते हैं—

"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहआए, अणुजाणह मे मि उग्गहं निसीहि।"

"अर्थात् मैं चाहता हूँ , हे पूज्य! वन्दन करने को शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यों की तरफ से ध्यान रोकता हूँ, मुझे आज्ञा दीजिये, परिमित स्थान में आने की।

"उपर्युक्त वन्दनकसूत्र में आनेवाले जावणिज्जाए—'यापनीय' शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगों में उनकी यापनीय नाम से प्रख्याति हो गई।" (जै.ध.या.सं./ पृ.५-६)।

इसके बाद डॉक्टर सा० ने अन्य विचारकों के मतों को भी उद्धृत किया है। तदनन्तर वे अपने मत को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"संभवतः जिस प्रकार उत्तरभारत में श्वेताम्बरों ने इस परम्परा को अपने साम्प्रदायिक दुरभिनिवेशवश 'बोटिक' अर्थात् भ्रष्ट या पतित कहा, उसी प्रकार दक्षिण में दिगम्बर-परम्परा ने भी उन्हें उनके

सुविधावादी जीवन के आधार पर अथवा उन्हें तिरस्कृत मानकर 'यापनीय' कहा हो।'' (जै. ध. या. सं. / पृ. ७)। तत्पश्चात् अपने कथन का उपसंहार करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—

''इस प्रकार हमने यहाँ यापनीय शब्द की सम्भावित विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु आज स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यह बता पाना तो कठिन है कि इन विविध विकल्पों में किस आधार पर इस वर्ग को यापनीय कहा गया था। फिर भी कल्याणविजय जी की मान्यता युक्तिसंगत है।'' (जै. ध. या. सं. / पृ. ७)।

इस प्रकार डॉक्टर सा० ने स्वयं स्वीकार किया है कि श्वेताम्बरों द्वारा 'बोटिक' और दिगम्बरों द्वारा 'यापनीय' नाम दिये जाने के पक्ष में प्रमाण का अभाव है और उन्होंने मुनि कल्याणविजय जी के मत को युक्तिसंगत माना है। इससे सिद्ध है कि यापनीयों ने अपने संघ का 'यापनीयसंघ' नाम स्वयं रखा था। अतः 'बोटिक' और 'यापनीय' नाम दूसरों के द्वारा दिये हुए हैं और 'मूलगण' नाम स्वयं यापनीयों के द्वारा रखा गया है, यह कथन अयुक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है। तथा यापनीयों ने आरंभ में अपना नाम मूलगण रखा था, यह कथन किसी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण से भी समर्थित नहीं है।

इसके अतिरिक्त गण तो संघ का अंग होता है, अतः यापनीयों ने अपने संघ को 'गण' कहा होगा, यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। पुनः उसके साथ 'मूल' शब्द लगाने का भी कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि उससे किसी अन्य संघ या गण की उत्पत्ति नहीं हुई थी, जिससे अपनी मौलिकता सूचित करने के लिए उसे अपने साथ 'मूल' शब्द जोड़ना आवश्यक होता। ये युक्तियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि यापनीयों ने अपने संघ का नाम मूलगण नहीं, अपितु 'यापनीय' ही रखा था।

५. मुनि कल्याणविजय जी ने लिखा है कि शिवभूति ने अपने सम्प्रदाय का नाम मूलसंघ रखा था, किन्तु दक्षिण में जाने पर वह यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुआ। (श्र.भ.म. / पृ. ३०१, ३२७)। मुनि जी की इस कल्पना से यही सिद्ध होता है कि जब यापनीयसंघ दक्षिण में 'यापनीय' नाम से ही जाना जाता था, तब दक्षिण के शिलालेखों में उसका उल्लेख 'यापनीय' नाम से ही हो सकता था, 'मूलसंघ' नाम से नहीं। अतः दक्षिण के जिन शिलालेखों में केवल 'मूलसंघ' नाम उल्लिखित है, वह एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ का ही उल्लेख है।

डॉ० सागरमल जी ने जो यह कल्पना की है कि यापनीयसंघ का 'मूलसंघ' नाम भी दक्षिण में जाने पर ही प्रचलित हुआ, वह इसलिए की है, जिससे यह सिद्ध

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किया जा सके कि दक्षिण के जिन शिलालेखों में 'मूलसंघ' नाम आया है वह यापनीयसंघ का ही पूर्वनाम है। किन्तु यापनीयसंघ का मूलसंघ नाम दक्षिण में जाने पर प्रचलित हुआ, इसका समर्थन किसी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण से नहीं होता। अतः यह शुद्ध कपोलकल्पना है।

दूसरी बात, डॉक्टर सा० ने माना है कि दक्षिण में यापनीय संघ के 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध होने के सौ वर्ष बाद उसे 'यापनीय' नाम मिला। डॉक्टर सा० ने 'बोटिक' नाम से यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२)में मानी है। और मूलसंघ का प्रथम उल्लेख नोणमंगल की ३७० ई० की ताम्रपट्टिका में तथा यापनीयसंघ का प्रथम उल्लेख ४७० ई० के मृगेशवर्मा के शिलालेख में मिलता है। यदि 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध होने के लिए पचास वर्ष का समय आवश्यक मान लिया जाय, तो यापनीयसंघ के दक्षिण में पहुँचने का समय ३२० ई० के लगभग फलित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कम से कम दो ढाई सौ वर्ष तक यह संघ उत्तर भारत में रहा। इतने समय तक वह वहाँ किस नाम से प्रसिद्ध रहा, इसके बारे में डॉक्टर सा० ने केवल संभावना व्यक्त की है। वे कहते हैं कि उत्तरभारत में उसने अपने को तीर्थंकर महावीर के मूल आचारमार्ग का अनुसरण करने के कारण 'मूलगण' कहा होगा।[१३४] संभावना व्यक्त करने से ही सिद्ध है कि उनके पास इसका कोई प्रमाण नहीं है, वस्तुतः 'मूलगण' नाम के किसी सम्प्रदाय का उल्लेख न तो श्वेताम्बर-साहित्य में हैं, न दिगम्बरसाहित्य में, न यापनीयसाहित्य में, न वैदिक-बौद्ध-साहित्य में और न किसी शिलालेख में, इसलिए किसी प्रमाण के मिलने की संभावना ही नहीं है। 'मूलगण' यापनीयसम्प्रदाय के एक 'गण' का नाम अवश्य था, किन्तु उसका सर्वप्रथम उल्लेख यापनीय-नन्दिसंघ के साथ ७७६ ई० के देवरहल्लि-अभिलेख में हुआ है तथा यापनीय-नन्दिसंघ का नाम भी सबसे पहले इसी शिलालेख में आया है।[१३५] अतः ३२० ई० के पूर्व यापनीयसंघ के 'मूलगण' नाम से प्रसिद्ध होने का प्रमाण न तो साहित्य में उपलब्ध है, न शिलालेखों में।

यह इस बात का सबूत है कि उत्तरभारत में यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, अन्यथा उत्तरभारत में उसका कोई न कोई नाम लोकप्रसिद्ध होता। इसलिए यह कथन ही असंगत है कि "दक्षिण में पहुँचने पर यापनीयसंघ पहले 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसके सौ वर्ष बाद 'यापनीयसंघ' नाम से।" उपर्युक्त प्रमाण

---

१३४. जै. ध. या. स. / पृ.४५ तथा डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृ.६३२।

१३५. "**श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दितनन्दिसङ्घान्वये ऐरेगित्तूर्नाम्नि गणे पुलिकल्गच्छे** ---।" ले. क्र. १२१/ जै. शि. सं. / मा.च. / भा.२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से यही सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दक्षिण भारत में ही हुई थी और वह आरंभ से ही 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

६. यापनीयसम्प्रदाय के उत्पत्तिकाल के विषय में अपने पूर्वोक्त मत को बदलकर उक्त विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में एक नहीं, अनेक स्थानों पर लिखा है कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ई० में हुई थी, क्योंकि इसी समय के शिलालेखों में प्रथम वार उसका नाम मिलता है। (जै.ध.या.स./पृ.३५०, ३५७, ३६८, ३७२, ३७३)। मैं भी इससे सहमत हूँ। शिलालेखों में नाम आने योग्य प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए कम से कम ५० वर्ष का समय तो आवश्यक माना ही जाना चाहिए। इसके अनुसार यापनीयसंघ का जन्म शिलालेख के समय ४७० ई० से ५० वर्ष पूर्व अर्थात् ४२० ई० में माना जाना चाहिए। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख करनेवाली नोणमंगल की ताम्र-पट्टिकाओं का समय ३७० ई० तथा ४२५ ई० है। इस कालगत पूर्वापरता से स्पष्ट है कि इन ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ यापनीयसंघ नहीं हो सकता। अतः वह एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ का ही नामान्तर है।

७. शिलालेखों में 'श्रीमूलसंघद पो (पु)न्नागवृक्षमूलगण' तथा 'श्रीमूलसंघान्वय-क्राणूरगण' इन उल्लेखों को देखकर डॉ० सागरमल जी ने माना है कि ये गण यापनीयों के हैं तथा मूलसंघ के साथ उनका उल्लेख हुआ है, इससे सिद्ध है कि मूलसंघ यापनीयसंघ का ही नाम था।[१३६] किन्तु यह उनकी एकान्तदृष्टि का निष्कर्ष है। वस्तुतः पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीयसंघ और मूलसंघ दोनों में था। इसी प्रकार नन्दिसंघ भी दोनों में था। इनमें भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'मूलसंघ' का। यथा—

क—'**श्रीमूलसंघद पो (पु) न्नागवृक्षमूलगणद।**' (होन्नूरलेख / ११०८ ई०)।[१३७]

ख—'**श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे**--।' (कडब-दानपात्र/८१२ ई०)।[१३८]

ग—'**श्रीयापनीयसंघद पुन्नागवृक्षमूलगणद** ---।' (हूलि-लेख/१०४४ ई०)।[१३९]

इनके अतिरिक्त ११६५ ई० के एकसम्बि (बेलगाँव, मैसूर) लेख,[१४०] १०२०

---

१३६. डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृष्ठ ६३२।
१३७. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / लेख क्रमांक २५०।
१३८. वही / लेख क्रमांक १२४।
१३९. जैन शिलालेखसंग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ / भाग ४ / लेख क्रमांक १३०।
१४०. वही / लेख क्रमांक २५९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ई० के रढवग्-लेख,[१४१] १३ वीं शताब्दी ई० के कोल्हापुर के मंगलवार-पेठस्थित मन्दिर के लेख[१४२] आदि अनेक अभिलेखों में **यापनीय-पुन्नागवृक्षमूलगण** उल्लेख है।

इस प्रकार यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ सर्वत्र 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध है कि मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग न होने से वह यापनीयसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण नहीं है, अपितु मूलसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूलसंघ और यापनीयसंघ अलग-अलग संघ थे।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'मूलसंघ' शब्द का प्रयोग सबसे पहले ११०८ ई० के होन्नूर-लेख में किया गया है। किन्तु उसके (पुन्नागवृक्ष-मूलगण के) साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग उसके पूर्व (८१२ ई०) के कड़ब-दानपत्र में भी मिलता है और उसके बाद (१०२०, १०४४, ११६५ ई०) के अनेक दानपत्रों में भी। इससे सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ 'यापनीय' नाम से ही अविच्छिन्नरूप से प्रसिद्ध रहा है। यदि सन् ११०८ ई० में उसका नाम मूलसंघ हो गया होता, तो उसके बाद से पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'मूलसंघ' शब्द का ही प्रयोग मिलता, 'यापनीय' शब्द का नहीं। यह संभव नहीं है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० से ८१२ ई० तक वह यापनीयसंघ नाम से प्रसिद्ध रहा हो, फिर बीच में अचानक पचास वर्षों के लिए उसका मूलसंघ नाम चल पड़ा हो, पश्चात् उसने पुनः 'यापनीय' नाम धारण कर लिया हो। यह बार-बार अकारण नाम बदलने की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मूलसंघ और यापनीयसंघ अलग-अलग संघ थे और पुन्नागवृक्षमूलगण मूलसंघ में भी था और यापनीय संघ में भी। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी यह स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"यापनीयसंघ का गणों से विशेष सम्बन्ध था, जैसे कुमुलिगण या कुमुदिगण, (कोटि) मडुवगण, कण्डूर् या क्राणूरगण, पुन्नागवृक्षमूलगण (जो मूलसंघ से भी संबंधित है)--- आदि आदि"।[१४३]

डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने 'जैन शिलालेखसंग्रह'(मा.च.)भाग ३ की प्रस्तावना (पृ.२९) में लिखा है कि "यापनीय-नन्दिसंघ के कनकोपलादि गणों का अस्तित्व बाद के लेखों से नहीं मालूम होता, इसलिए यह कहना कठिन है कि उनका क्या

---

१४१. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : 'जैनसम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश'/ 'अनेकान्त'/ महावीर निर्वाण विशेषांक / १९७५ ई०/ पृ.२४७।
१४२. वही / पृ.२५०।
१४३. वही / पृ.२५०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हुआ। पर लेख नं० २५० (सन् ११०८) में पुन्नागवृक्षमूलगण को हम मूलसंघ के अन्तर्गत जीवित पाते हैं। संभव है पीछे वह मूलसंघ द्वारा आत्मसात् कर लिया गया हो।''

किन्तु डॉ० चौधरी की इस प्रस्तावना के लिखे जाने (१९५७ ई०) के बाद डॉ० ए० एन० उपाध्ये (१९७३ ई०) एवं प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर (१९६५ ई०) ने सन् ११६५ और उसके बाद के कुछ अभिलेखों का विवरण दिया है, जिनमें यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण का उल्लेख है। (देखिए , प्रस्तुत अध्याय की पा. टि. १४०-१४२)। इससे ज्ञात होता है कि यापनीयसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण सन् ११०८ ई० के बाद भी विद्यमान था, वह मूलसंघ के द्वारा आत्मसात् नहीं किया गया था, अपितु मूलसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण अपना अलग था। इस प्रकार मूलसंघ के साथ पुन्नागवृक्षमूलगण का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि यापनीयसंघ ही मूलसंघ था।

मूलसंघीय नन्दिसंघ से भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयों ने अपने नन्दिसंघ के साथ भी 'यापनीयसंघ' विशेषण प्रयुक्त किया है, यथा—

''**श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे श्रीकित्याचार्यान्वये**---।''[१४४]

४

क्राणूर् या काणूर् गण मूलसंघ का ही गण था

जहाँ तक क्राणूर्गण का सम्बन्ध है, वह केवल मूलसंघ का ही गण था, यापनीयसंघ में क्राणूर्गण नहीं अपितु कण्डूर्गण था, जो कहीं-कहीं 'काण्डूर्' या 'काडूर्' भी लिखा गया है। नीचे उद्धृत १२वीं सदी के लेखांश में यापनीयसंघ के साथ कण्डूर्गण का ही उल्लेख है—''**यापनीयसंघप्रतीतकण्डूर्गणाब्धिचन्द्रमरेंदी**---।''[१४५]

इसके अतिरिक्त १३वीं सदी के अदरगुंचि (धारवाड़, मैसूर) के कन्नड़ अभिलेख में भी यापनीयसंघ के साथ काडूर्गण का ही नाम है।[१४६] काणूर्गण के साथ यापनीयसंघ का निर्देश किसी भी अभिलेख में नहीं है, सर्वत्र मूलसंघ का ही उल्लेख है। जहाँ उसके साथ मूलसंघ का उल्लेख नहीं है, वहाँ, उसकी गुर्वावली मूलसंघ के आचार्यों से मिलती है। यथा—

---

१४४. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ कडब-लेख क्र. १२४ / ८१२ ई०।

१४५. जैन शिलालेख संग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ / भाग ४ / हूलि-लेख क्र. २०७ / १२वीं सदी पूर्वार्ध।

१४६. वही / अदरगुंचि-लेख क्र. ३६८ / १३वीं सदी।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

क—"काणूरगणद --- नन्दिभट्टारकरुं बालचन्द्रभट्टारकरुं मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवरुं --- गुणनन्दिदेवशब्दब्रह्म --- प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवर --- माधनन्दिसिद्धान्त---।"[१४७]

ख—"श्रीमूलसंघ-कुण्डकुंदान्वय-काणूरगण-तिंत्रिणिगच्छद जवलिगेय मुनिभद्रसिद्धान्तदेवरशिष्य ---।"[१४८]

ग—"देशियगणद --- काणूरगणद ---।"[१४९]

घ—"श्रीमूलसंघ-कोण्डकुन्दान्वय-काणूरगणद मेषपाषाणगच्छद श्रीप्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवर---।"[१५०]

ङ--"श्रीकाणूरगणमूलसंघ --- पुस्तकगच्छद।"[१५१]

च—"श्रीमूलसंघ-पनसोगवतीप्रसिद्धदेशीयविदितपुस्तकचारुगच्छे। यः कुण्डकुंदमुनिवंशललामभूल्ललितकीर्तिमहामुनीन्द्रः।"[१५२]

छ—"श्रीमूलसंग-कुण्डकुन्दान्वयद काणूरगण माधवचन्द्रदेव ---।"[१५३]

ज—"श्रीमूलसंघद-कोण्डकुन्दान्वयद क्राणूरग्गण मेषपाषाणगच्छद ---।"[१५४]

झ—श्रीमूलसंघविख्याते मेषपाषाणगच्छके।
क्राणूर-ग्गण-जिनावासो निर्मितं हेम्मभूभृतः॥[१५५]

इन समस्त उद्धरणों में काणूरगण या क्राणूरगण का सम्बन्ध मूलसंघ के ही साथ बतलाया गया है और मूलसंघ का सम्बन्ध कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण तथा पुस्तकगच्छ के साथ वर्णित है। इससे एकदम स्पष्ट है कि काणूरगण या क्राणूरगण कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ का ही गण था और मूलसंघ कुन्दकुन्द से सम्बद्ध होने के कारण निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर है। जैनशिलालेख-संग्रह (मा.च.) भाग ३ की प्रस्तावना (पृ.२५) में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने एवं जैन शिलालेख संग्रह (भा.ज्ञा.) भाग ४ की प्रस्तावना

---

१४७. वही / ईचवाडि (मैसूर) लेख क्र. ९६ / पंक्ति ५-१०/१२ वीं सदी।
१४८. वही / दडग (मांडया, मैसूर) लेख क्र. २१२ / पंक्ति २६ / १२वीं सदी पूर्वार्ध।
१४९. वही / पंक्ति ३३।
१५०. वही / सालूर (मैसूर) लेख क्र. २१४ / पंक्ति १४ / सन्११३०।
१५१. वही / शृंगेरी (मैसूर) लेख क्र. २४० / पंक्ति ५ / सन्११५०।
१५२. वही / माविनकेरे (कडूर, मैसूर) लेख क्र. २९२ / १२ वीं सदी।
१५३. वही / मावलि (मैसूर) लेख क्र. ३१२ / १२वीं सदी।
१५४. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / कल्लूरगुड्डु-लेख क्र. २७७ / पृ.४१६।
१५५. वही / पुरले-लेख क्र. २९९ / पृ.४५५ / १११२ ई.।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(पृ.४-१२) में प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने भी काणूरगण को मूलसंघ से ही सम्बद्ध बतलाया है।[१५५]

एक बात और ध्यान देने योग्य है। ८२१ ई० के सूरत ताम्रपत्र में मूलसंघ के अन्तर्गत सेनसंघ तथा सेनसंघ में मल्लवादिगुरु के शिष्य श्रीसुमतिपूज्यपाद तथा उनके शिष्य अपराजित का अस्तित्व बतलाया गया है। यथा—

''मूलसंघोदयान्वय-सेनसंघ-मलवादिगुरोश्शिष्य-श्रीसुमतिपूज्यपादः तच्छिष्य श्रीमदपराजितगुरोः ---।''[१५६]

१०५३ ई० के मुलगुन्द-(मैसूर)-शिलालेख में भी मूलसंघ में सेनान्वय और सेनान्वय में अजितसेन, कनकसेन, नरेन्द्रसेन और नयसेन के होने का उल्लेख किया गया है।[१५७]

सेनसंघ आचार्य अर्हद्बलि के द्वारा मूलसंघ का विभाजन किये जाने पर अस्तित्व में आया था। अतः मूलसंघ के साथ सेनसंघ का सम्बन्ध बतलाये जाने से निश्चित हो जाता है कि मूलसंघ निर्ग्रन्थसंघ का ही दूसरा नाम है। निष्कर्ष यह कि किसी भी अभिलेख में मूलसंघ के साथ यापनीयसंघ अथवा उसके किसी गण का उल्लेख नहीं हुआ है, जब कि निर्ग्रन्थसंघ के गणों का उल्लेख मूलसंघ के साथ अनेकत्र हुआ है। इससे सिद्ध है कि नोणमंगल की ३७० ई० एवं ४२५ ई० की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ एवं उसके बाद ८२१ ई० के ताम्रपत्र तथा सभी उत्तरवर्ती अभिलेखों में उत्कीर्ण 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ का ही पर्यायवाची है।

अब मैं डॉक्टर सा० के ही उन वचनों को प्रस्तुत करता हूँ, जिनसे मूलसंघ को यापनीयसंघ सिद्ध करने के लिए उनके द्वारा उपस्थापित समस्त पूर्व हेतु निरस्त हो जाते हैं। वे लिखते हैं—

''सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया --- तो प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघी कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल-परम्परा के यापनीय, द्रविड़ आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे, जब कि इन्द्रनन्दी ने इन सब को जैनाभास कहा है। इसका

---

१५६. जैन शिलालेख संग्रह / भा.ज्ञा. / भाग ४ / लेख क्र.५५ / पंक्ति ४५-४६ / ८२१ ई.।

१५७. वही / ले.क्र.१३८ / पंक्ति २२-२३—

श्रीमूलसंघवाराशौ मणीनामिव सार्चिषाम्।
महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि॥ २॥ उत्तरपुराणप्रशस्ति।

तात्पर्य यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघी कहने की एक होड़ लगी हुई थी।'' (डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र. / पृ. ६३२)।

यद्यपि यापनीय आदि जैनाभास-संघों के साथ मूलसंघ विशेषण ग्यारहवीं शताब्दी ई० के बाद के शिलालेखों में भी देखने में नहीं आया, तथापि भविष्य में कभी कोई ऐसा शिलालेख मिल जाय, जिसमें उक्त जैनाभास-संघों के साथ मूलसंघ नाम प्रयुक्त हो, तो उसका कारण यही हो सकता है, जो मान्य विद्वान् ने अपने उपर्युक्त कथन में बतलाया है। इस कथन से मान्य विद्वान् ने यह स्वीकार कर लिया है कि आचार्य कुन्दकुन्द से जुड़ा मूलसंघ ही मौलिक मूलसंघ है, अन्य संघों ने प्रतिक्रिया-स्वरूप ही अपने साथ 'मूलसंघ' नाम जोड़ा है। आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध एवं ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे (देखिए, दशम अध्याय), अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उनके बाद सन् ३७० ई० एवं ४२५ ई० की नोणमंगल-ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ आचार्य कुन्दकुन्द से ही सम्बद्ध निर्ग्रन्थ-संघ है।

इस प्रकार मान्य विद्वान् के ही वचन उनकी तथा मुनि कल्याणविजय जी की इस कपोलकल्पना को कपोलकल्पना सिद्ध कर देते हैं कि यापनीयसंघ का पूर्वनाम मूलसंघ था। जब मान्य विद्वान् की कल्पना के अनुसार यापनीयसंघ ने ११ वीं शती ई० से अपने साथ 'मूलसंघ' विशेषण जोड़ना शुरू किया, तब उसका पूर्वनाम 'मूलसंघ' कैसे हो सकता है? यह तो परवर्ती नाम ही माना जा सकता है।

मान्य विद्वान् (डॉ० सागरमल जी) के एक दूसरे तर्क से भी मूलसंघ को यापनीयसंघ सिद्ध करनेवाले उनके पूर्वोक्त तर्क धराशायी हो जाते हैं। उनका कथन है कि ''यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इस तथ्य के सूचक हैं कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है।'' (डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र. / पृ. ६३३)।

मान्य विद्वान् का यह कथन सर्वथा सत्य है कि 'मूलाचार' और 'मूलाराधना' (भगवती-आराधना) ग्रंथों के नाम के साथ जुड़ा हुआ 'मूल' विशेषण उनके मूलसंघीय होने का सूचक है। परन्तु इन ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ मानना सत्य नहीं है। ये दोनों ग्रन्थ सर्वथा दिगम्बर-ग्रन्थ हैं, इसके प्रमाण 'भगवती-आराधना' एवं 'मूलाचार' नामक १३वें और १५वें अध्यायों में द्रष्टव्य हैं। अतः दिगम्बर-ग्रन्थों के नाम के साथ 'मूल' विशेषण जुड़ा होने से सिद्ध है कि 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) का ही दूसरा नाम है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५

निर्ग्रन्थसंघ ही मूलसंघ : डॉ० सागरमल जी

अब मैं एक अद्भुत और रोचक बात सामने ला रहा हूँ। डॉ० सागरमल जी ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ में स्वयं ही निर्ग्रन्थसंघ को मूलसंघ सिद्ध किया है। किन्तु ग्रन्थ के 'लेखकीय' में लिखा है—

''प्रस्तुत कृति के प्रणयन की दीर्घ कालावधि के दौरान अनेक नवीन तथ्यों एवं जानकारियों के उपलब्ध होने पर मेरी अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में प्रारंभ में मैंने मूलसंघ को दिगम्बर मान लिया था, किन्तु बाद में मुझे जो साक्ष्य उपलब्ध हुए , उनके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वस्तुतः मूलसंघ के प्राचीन अभिलेखीय उल्लेख दिगम्बर नहीं, बल्कि यापनीय हैं। यापनीयग्रन्थों की मूलाचार, मूलाराधना (भगवती-आराधना) जैसी संज्ञाएँ हमारे उक्त निष्कर्ष का समर्थन करती हैं। पाँचवीं शती के लगभग जब इस सम्प्रदाय का यापनीय नामकरण हुआ, तब तक दिगम्बर-सम्प्रदाय तो 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' नाम से ही जाना जाता था। चौथी-पाँचवीं शती के जिन दो अभिलेखों में 'मूलसंघ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वे शब्द यापनीयों के ही सूचक हैं। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि कृति में जहाँ कहीं ऐसे कुछ अन्तर्विरोध परिलक्षित हों, वहाँ परवर्ती उल्लेख को नवीन शोध का निष्कर्ष मानकर उसे ही मेरा मन्तव्य माना जाय।'' (लेखकीय/ पृ. VI / जै. ध. या. स.)।

डॉक्टर सा० ने 'मूल' शब्द से मूलसंघ के साथ सम्बन्ध सूचित करनेवाले 'मूलाचार' और 'मूलाराधना' (भगवती-आराधना) नामक ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ मान्नकर उन्हें मूलसंघ और यापनीयसंघ के अभिन्न होने का साक्ष्य माना है। किन्तु उक्त ग्रन्थ यापनीयग्रन्थ हैं ही नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ हैं। (इसके प्रमाण अध्याय १३ एवं १५ में द्रष्टव्य हैं)। अतः वे मूलसंघ और यापनीयसंघ के अभिन्न होने के नहीं, बल्कि दिगम्बरसंघ अर्थात् निर्ग्रन्थसंघ और मूलसंघ की अभिन्नता के साक्ष्य हैं। इसलिए डॉक्टर सा० ने अपने ग्रन्थ-प्रणयन की आरम्भिक अवस्था में निर्ग्रन्थसंघ और मूलसंघ में अभेद स्थापित करनेवाले जो हेतु बतलाये हैं, वे बाधित नहीं होते। वे मूलसंघ को निर्ग्रन्थसंघ सिद्ध करनेवाले अतिरिक्त हेतु हैं। अतः उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वे इस प्रकार हैं—

१. हल्सी के अभिलेख (क्र. ९९) में '**यापनीयनिर्ग्रन्थकूर्चकानां**' ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक ये तीन स्वतन्त्र सम्प्रदाय थे। (जै.ध.या.स./ पृ. ४४-४५)। इसी प्रकार यदि '**मूलसंघ-निर्ग्रन्थसंघ-यापनीय-**

कूर्चकानां' इस प्रकार बहुवचनात्मक या '**मूलसंघ-निर्ग्रन्थसंघयोः**' ऐसा द्विवचनात्मक प्रयोग किसी अभिलेख में प्राप्त होता, तो माना जा सकता था कि मूलसंघ और निर्ग्रन्थसंघ अलग-अलग संघ हैं। किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं मिलता, इससे सिद्ध है कि वे अलग-अलग नहीं, अपितु अभिन्न ही हैं।

२. ''**यापनीयों के दक्षिण में प्रवेश के पूर्व भद्रबाहु के पहले या उनके साथ जो निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग दक्षिण चला गया था, वह अपने आपको 'निर्ग्रन्थ' ही कहता होगा, क्योंकि उस समय तक संघभेद या गणभेद नहीं हुआ था।** सम्भवतः जब यापनीय उत्तरभारत से दक्षिणभारत की ओर गये, तब वे अपने गण को मूलगण कहते रहे होंगे, क्योंकि यापनीयों (बोटिक) के विभाजन के समय उत्तरभारत में गणभेद हो चुका था। अतः यापनीयों ने भी अपने साथ गण का प्रयोग अवश्य किया होगा। उनके जिन प्राचीन गणों के उल्लेख हैं, उनमें **पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्ष-मूलगण** और **श्रीमूलमूलगण** ये तीन नाम मिलते हैं और इन तीनों के साथ मूलगण का प्रयोग है। अतः यह स्वाभाविक है कि जब उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ सचेलता और अचेलता के प्रश्न पर दो भागों में विभक्त हो गया, तो उत्तरभारत की उस अचेल शाखा ने, जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक और दिगम्बरों ने यापनीय कहा है, अपने को तीर्थंकर महावीर के मूल आचारमार्ग का अनुसरण करने के कारण 'मूलगण' कहा होगा। जब यह मूलगण दक्षिण में प्रविष्ट हुआ होगा, तो दक्षिण के निर्ग्रन्थसंघ ने इनकी सुविधावादी प्रवृत्तियों के कारण अथवा आपस में मिलते समय 'किं जवणिज्जं' (किं यापनीयं?) ऐसा पूछने पर या वन्दन करते समय 'जवणिज्जाये' शब्द का जोर से उच्चारण करने के कारण इन्हें 'यापनीय' (जावनीय) नाम दिया होगा। **इन्हें बाहर से आया जानकर अपने संघ को मूलसंघ के नाम से अभिहित किया होगा। अतः सम्भावना यही है कि मूलगण और मूलसंघ अलग-अलग थे। 'मूलगण' यापनीय था और 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थ था। निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ से भिन्न नहीं था, यह उन अचेल श्रमणों का वर्ग था, जो भद्रबाहु के पूर्व या भद्रबाहु के समय से दक्षिण भारत में विचरण कर रहे थे। अतः ई० सन् की पाँचवीं शती तक दक्षिण भारत में यापनीयों से भिन्न अचेल परम्परा के दो अन्य संघ भी थे एक निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) और दूसरा कूर्चकसंघ**'' (जै.ध.या.स./पृ.४५)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी ने अपने चिन्तन के आधार पर मूलसंघ और निर्ग्रन्थसंघ को अभिन्न सिद्ध किया है। मान्य विद्वान् ने मूलसंघ और यापनीयसंघ में भिन्नताएँ भी बतलायी हैं, जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

१. ''भद्रबाहु के पूर्व या उनके साथ जो मुनिसंघ दक्षिण की यात्रा पर गया था, वह यद्यपि अपने साथ महावीर का तत्त्वज्ञान और आचारमार्ग लेकर अवश्य गया

था, किन्तु उनके पास मात्र उतना ही साहित्य रहा होगा, जितना भद्रबाहु के काल तक निर्मित हो पाया था। पुनः विस्मृति और भाषागत विभिन्नताओं के कारण वे उन आगमग्रन्थों को मूल रूप में कितना सुरक्षित रख पाये थे, आज यह कहना भी कठिन है। सम्भवतः कालक्रम में उस परम्परा के पास आचारमार्ग और तत्त्वज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की अपनी भाषा में जानकारी के अतिरिक्त विशिष्ट ग्रन्थ शेष नहीं रह गये थे। **यही कारण है कि दक्षिण भारत का वह निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) आगमों को विच्छिन्न मानने लगा था। यापनीयसंघ जो कि उनके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् उत्तर भारत की निर्ग्रन्थधारा से अलग होकर दक्षिण भारत पहुँचा था, वह अपने साथ जिन आगमग्रन्थों को ले गया था, उनको मूलसंघ ने मानने से इनकार कर दिया होगा। क्योंकि उन ग्रन्थों में भी, चाहे वे अपवादमार्ग के रूप में ही क्यों न हों, वस्त्र, पात्र आदि के उल्लेख तो थे ही।** यही कारण था कि दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थसंघ या मूलसंघ के आचार्यों ने आगे चलकर क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त संस्कृत को भी अपना प्रमुख माध्यम बनाया। कुन्दकुन्द ही मूलसंघ के प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने अपने संघ में आगमों की पूर्ति के लिए यापनीयों की शैली में शौरसेनी में ग्रन्थ लिखे। यद्यपि कुन्दकुन्द की लेखन-दृष्टि यापनीय ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न थी। इस प्रकार आगमों के विच्छिन्न होने के प्रश्न पर दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थ-मूलसंघ और यापनीयों में मतभेद रहा होगा।

"**यापनीयों और दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थसंघ-मूलसंघ में मतभेद का दूसरा कारण अपवाद के रूप में वस्त्र-पात्र का ग्रहण भी हो सकता है, क्योंकि यापनीय वस्त्र-पात्र को अपवादरूप में ग्राह्य मानते थे।** क्योंकि उनके द्वारा मान्य आगमों और निर्मित ग्रन्थों, दोनों में ही अपवादरूप में इनके ग्रहण का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः दक्षिण में मुनि-आचार में शिथिलाचार का प्रवेश यापनीयों के द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

३. "**विवाद का तीसरा आधार सम्भवतः स्त्री-दीक्षा भी हो सकता है। मूलसंघ स्त्री को महाव्रतारोपणरूप दीक्षा देने के विरोध में रहा होगा, क्योंकि उसके द्वारा सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं था।** यह बात कुन्दकुन्द के एवं परवर्ती ग्रन्थों से पुष्ट होती प्रतीत होती है। मूलसंघ के आचार्यों ने यापनीय, द्रविड़ और माथुर संघ को इसलिए भी जैनाभास कहा था कि वे स्त्री को पंचमहाव्रतरूप दीक्षा प्रदान करते थे। सम्भवतः मूलसंघ स्त्री को केवल सामायिक-चारित्र ग्रहण करने की अनुमति देता होगा, छेदोपस्थापनीय-चारित्र अर्थात् महाव्रतारोपण की अनुमति नहीं देता होगा। आगे चलकर यही विवाद अधिक तीव्र हुआ और मूलसंघ के आचार्यों ने स्त्री-दीक्षा के साथ-साथ स्त्री-मुक्ति का भी निषेध कर दिया।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४. "इसके अतिरिक्त केवलीभुक्ति, केवली को कितने परीषह होते हैं आदि कुछ तात्त्विक मान्यताओं को लेकर भी दोनों में मतभेद रहा होगा।" (जै. ध. या. स./ पृ. ४६-४७)

इन भिन्नताओं के प्रदर्शन द्वारा भी मान्य विद्वान् ने मूलसंघ और यापनीयसंघ को परस्पर स्वतन्त्र सिद्ध किया है।

६
दिगम्बरसंघ के ही मूलसंघ होने का एक स्पष्ट प्रमाण

श्वेताम्बराचार्य श्री गुणरत्नसूरि के समय (१४ वीं शती ई०) में स्त्रीमुक्ति-विरोधी दिगम्बरसंघ ही 'मूलसंघ' के नाम से प्रसिद्ध था, यह उनके निम्नलिखित वचनों से ज्ञात होता है-"**दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घभेदात्।** काष्ठासङ्घे चमरीबालैः पिच्छिका, **मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका,** माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिकाः। **आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलिनां भुक्तिं, सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते।** गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।" (तर्करहस्यदीपिका-वृत्ति/ षड्दर्शनसमुच्चय/अ.४/पृ.१६१)।

यहाँ मूलसंघ को काष्ठासंघ, माथुरसंघ और यापनीयसंघ से भिन्न मयूरपिच्छधारी, धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देनेवाला तथा स्त्रीमुक्ति आदि का विरोधी बतलाया गया है। इससे सिद्ध है कि गुणरत्नसूरि के समय में जो इतिहास था, उसके अनुसार दिगम्बरसंघ ही मूलसंघ के नाम से जाना जाता था।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अपने पूर्वोद्धृत लेख "**जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश**" में लिखा है कि गयद्रुग-(जिला बेल्लारी)-विवरण में निसिदि के निर्माण का उल्लेख है, जिसमें आठ नाम लिखे हैं, **उनमें से मूलसंघ के चन्द्रभूति तथा यापनीयसंघ के चन्द्रेन्द्र, बादय्य और तम्मण्ण के नाम स्वाभिप्रेत हैं।** (देखिये, इसी अध्याय की पादटिप्पणी क्र० ३७) यहाँ मूलसंघ और यापनीयसंघ को भिन्न संघों के रूप में उल्लिखित किया गया है। इससे भी सिद्ध है कि यापनीयसंघ का नाम मूलसंघ नहीं था, अपितु दिगम्बरसंघ ही मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध था।

इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है कि **मूलसंघ** दिगम्बरसंघ या निर्ग्रन्थसंघ का ही दूसरा नाम है। एकमात्र अचेललिंग से मुक्ति के सिद्धान्त का अनुयायी होने के कारण वह **निर्ग्रन्थसंघ** के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा उसके विभाजन से भिन्न

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सिद्धान्तोंवाले श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति हुई थी, किन्तु निर्ग्रन्थसंघ भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का यथावत् अनुगामी बना रहा, इसलिए उसका **मूलसंघ** नाम प्रचलित हुआ।

७

निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की प्राचीनता की स्वीकृति

डॉ० सागरमल जी ने ऊपर निर्ग्रन्थसंघ को ही मूलसंघ सिद्ध करते हुए ईसापूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण गये निर्ग्रन्थसंघ की वे ही (सवस्त्रमुक्ति-निषेध आदि) सैद्धान्तिक विशेषताएँ बतलायी हैं, जो वर्तमान में दिगम्बर-सम्प्रदाय में मिलती हैं। सन् २००४ ई० में लिखे गये अपने नये ग्रन्थ '**जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा**' में तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि **ईसापूर्व चतुर्थ शती में भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण गया निर्ग्रन्थसंघ ही आज की दिगम्बर-परम्परा का पूर्वज है।** (देखिए , अध्याय ६ / प्रकरण २ / शीर्षक २)। इस प्रकार उन्होंने दिगम्बर-परम्परा का अस्तित्व भगवान् महावीर के युग से ही स्वीकार किया है। अत: उन्होंने अन्यत्र (जै. ध. या. स. / पृ.३९४ पर) जो यह माना है कि उसका प्रवर्तन विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने किया था, वह उनके ही वचनों से असत्य सिद्ध हो जाता है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चतुर्थ प्रकरण

यापनीयसंघ की अन्य विशेषताएँ

१

मन्दिरनिर्माण एवं मूर्तिप्रतिष्ठा

शिलालेखों से ज्ञात होता है कि यापनीय साधु और उनके भक्तों ने अनेक जैनमन्दिरों का निर्माण तथा जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी। जिनमूर्तियाँ दिगम्बरमुद्रा में होती थीं। "बेलगाँव की 'दोड्ड वसदि' (इस नाम के जैनमन्दिर) में भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा है, जो किसी समय किले के मन्दिर में थी। इसमें जो पीठिकालेख है, उससे पता चलता है कि यापनीयसंघ के पारिसय्य ने १०१३ ई० में इस मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसे साहणाधिपति (संभवतः कदम्बशासक जयकेशी के दण्डनायक) की माता कत्तय्य और जक्कव्वे ने कल्लहविळ (गोकम के पास) ग्राम की भूमि दान में दी थी। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पारिसय्य साधु या गुरु नहीं थे, अपितु कोई सामान्यजन थे, जिनके यापनीयसंघ से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे होंगे, इसीलिए उनका विशेषतया उल्लेख किया गया है।"[१५८] इस मन्दिर की यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा आजकल दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती है। (प्रेमी : जै. सा. इ./प्र. सं./पृ. ४२)।

२

यापनीय साहित्य

यापनीयसंघ में श्वेताम्बर-परम्परा के आगम मान्य थे। डॉ० सागरमल जी के अनुसार "आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, निशीथ, जीतकल्प, व्यवहार, आवश्यक आदि अंगत्र तथा इन आगमों की निर्युक्तियाँ, मरणविभक्ति, संस्तारक, संग्रह, स्तुति, देविन्दथुई, प्रत्याख्यान (आतुर एवं महाप्रत्याख्यान) आदि प्रकीर्णक तथा कसंप्रकृति (कम्मपयडी) आदि कर्मसाहित्य के ग्रन्थ हैं। इन आगमिक ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन और स्वाध्याय की परम्परा यापनीयों में थी।" (जै. ध. या. सं./पृ. ६८)। श्रुतसागरसूरि ने भी लिखा है कि यापनीय कल्पसूत्र का वाचन करते हैं। (दंसणपाहुडटीका/गा. ११)।

माननीय पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—"श्वेताम्बरसम्प्रदाय-मान्य जो आगमग्रन्थ हैं, यापनीयसंघ शायद उन सभी को मानता था।" (जै. सा. इ./प्र. सं./पृ.४५)।

---

१५८. डॉ० ए० एन० उपाध्ये : 'जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश'/'अनेकान्त'/ महावीर निर्वाण विशेषांक/१९७५ ई./पृ. २४७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र को छोड़कर चारों अनुयोगों के सभी ग्रन्थ यापनीयों को अपनी जननी श्वेताम्बर-परम्परा से विरासत में उपलब्ध हुए थे। इसलिए उनका स्वरचित साहित्य प्रायः नगण्य है। उन्होंने प्रायः वही ग्रन्थ रचे हैं, जो दिगम्बर-परम्परा की स्त्रीमुक्तिनिषेध, केवलिभुक्तिनिषेध आदि मान्यताओं का खण्डन करने के लिए और अपने मत की पुष्टि के लिए आवश्यक थे। **हरिभद्रसूरि** ने **ललितविस्तरा** में एक **यापनीयतन्त्र** नामक यापनीयग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसके स्त्रीमुक्ति-समर्थक अनेक तर्क उन्होंने अपने ग्रन्थ (ललितविस्तरा) में उद्धृत किये हैं, किन्तु यह ग्रन्थ वर्तमान में अनुपलब्ध है। यापनीय आचार्य **पाल्यकीर्ति शाकटायन**[१५९] के तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, **स्त्रीनिर्वाणप्रकरण, केवलिभुक्तिप्रकरण** एवं **शाकटायनव्याकरण**। उनका एक साहित्यविषयक ग्रन्थ भी था, जिसका मत राजशेखर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत किया है। (प्रेमी : जै. सा. इ./प्र. सं./पृ.४३)। यापनीय साहित्य के इतने ही ग्रन्थों का पता अभी तक चल पाया है। पाल्यकीर्ति शाकटायन सम्राट् **अमोघवर्ष** के समकालीन (८१४-८६७ ई०) थे। (ती. म. आ. प./३/पृ.२०)।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है। (जै. सा. इ./द्वि. सं./

---

१५९. "**शाकटायन या पाल्यकीर्ति** : शाकटायन नाम का एक और व्याकरणग्रन्थ है, जिसके कर्त्ता जैन थे। ये भी शाकटायन नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। वादिराजसूरि ने अपने 'पार्श्वनाथचरित' काव्य में उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान्॥

अर्थात् उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या वर्णन किया जाय, जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगों को शाब्दिक या व्याकरणज्ञ बना देता है।

शाकाटायन की अमोघवृत्ति नाम की एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ '**श्रीवीरममृतं ज्योतिः**' आदि मंगलाचरण से होता है। वादिराजसूरि ने इसी मंगलाचरण के '**श्री**' पद को लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरण का आरंभ करने पर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

पूर्वोक्त श्लोक की टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी **पार्श्वनाथचरित-पंजिका** में इस प्रकार करते हैं-"**तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं-श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणम् आकर्णनम्।**" इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पाल्यकीर्ति को शाकटायन-सूत्रों का कर्त्ता मानते थे।" (पं० नाथूराम प्रेमी : शाकटायन और उनका शब्दानुशासन / जैनसिद्धान्त भास्कर / भाग ९ / किरण १ / जून १९४२ / पृ. १८)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पृ. ७९, ५२१-५५३)। श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी प्रेमी जी का अनुसरण करते हुए 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त मान्यता का पोषण किया है। और स्वयं ने सन्मतिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश को भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी सन्मतिसूत्र को यापनीयग्रन्थ बतलाया है। डॉ० सागरमल जी ने तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को छोड़कर उपर्युक्त ग्रन्थों को तथा षट्खण्डागम, कसायपाहुड, यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ति, वरांग-चरित आदि अन्य ग्यारह ग्रन्थों को भी यापनीय आचार्यों की कृति घोषित किया है, किन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ यापनीय-आचार्य द्वारा रचित नहीं है, सभी ग्रन्थ दिगम्बराचार्यों द्वारा रचे गये हैं। इसका सप्रमाण प्रतिपादन उत्तरवर्ती अध्यायों में द्रष्टव्य है।

३
श्वेताम्बरीय और यापनीय आगमग्रन्थों में पाठभेद

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने लिखा है कि "श्वेताम्बरसम्प्रदाय मान्य जो आगमग्रन्थ हैं, यापनीयसंघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और इसका कारण शायद यह हो कि उपलब्ध वल्लभीवाचना से पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरीवाचना) यापनीयसंघ के पास थी। क्योंकि विजयोदयाटीका में आगमों के जो उद्धरण दिये गये हैं, वे श्वेताम्बर आगमों में बिलकुल ज्यों के त्यों नहीं हैं, कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. ४५-४६)।

इसका तात्पर्य यह है कि यापनीय-सम्प्रदाय माथुरीवाचना के श्वेताम्बर-आगमों को मानता था। यह वाचना वीरनिर्वाण संवत् ८२७-८४० (ई० सन् ३००-३१३) में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में हुई थी। इस वाचना के आगमों में ऐसे अनेक पाठ थे, जो वलभीवाचना के आगमों में नहीं मिलते अर्थात् उनमें से हटा दिये गये। वलभीवाचना वीर निर्वाण संवत् ९८०-९९३ (ई. सन् ४५३-४६६) में श्री देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में वलभी में सम्पन्न हुई थी।

माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—"जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर की तरह एक यापनीयसंघ भी था। यह संघ नग्नता का पक्षपाती था तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के एक आचार्य अपराजित- सूरि की संस्कृतटीका भगवती-आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है, जो मुद्रित हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में श्री अपराजितसूरि ने आगमग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। यहाँ दो-एक उद्धरण दिये जाते हैं—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''तथा चोक्तमाचारांगे—सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खादं-इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जादा हवंति। तं जहा-सव्वसमणागदे णोसमणागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमगदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्विंदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिउं एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति।'' (वि. टी./ भ. आ./ गा.'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३/ पृ. ३२५)।

''इसमें बतलाया है कि पूर्ण श्रामण्य के धारी को, जिसके हाथ-पैर सक्षम होते हैं और सब इन्द्रियाँ समग्र होती हैं, उसे प्रतिलेखन के सिवाय एक भी वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। यह उद्धरण वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता, जबकि अन्य उद्धरण उसमें मिलते हैं।

''इसी तरह उत्तराध्ययन से भी कुछ पद्य ('आचेलक्कुद्देसिय' गाथा की विजयोदया टीका में) उद्धृत किये गये हैं, जिनमें से कुछ वर्तमान उत्तराध्ययन में नहीं मिलते। दो पद्य नीचे लिखे हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥

सचेलगो सुखी भवदि असुखी चावि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए॥

''इनमें बतलाया है कि वस्त्र को त्यागकर पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए और जिनरूपधारी भिक्षु को सदा अचेल रहना चाहिए। वस्त्रधारी सुखी होता है, वस्त्रत्यागी दुःखी, अतः मैं सचेल रहूँगा, ऐसा भिक्खु को नहीं सोचना चाहिए।

''अपराजितसूरि ने कल्पसूत्र से भी अनेक पद्य उद्धृत किये हैं, जो मुद्रित कल्पसूत्र में नहीं मिलते।'' (जै. सा. इ./ पू. पी./ पृ. ५२५-२६)।

ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि माथुरीवाचना के आगमों में पाये जानेवाले नग्नत्व-समर्थक अनेक पाठ वलभीवाचना के आगमों में शामिल नहीं किये गये। इससे निश्चित होता है कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से किञ्चित् भिन्न थे।

माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने यहाँ पर कहा है कि अपराजितसूरि द्वारा आगमग्रन्थों से दिये गये अनेक उद्धरणों में से अनेक वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। यहाँ अनेक में से अनेक का अभिप्राय 'कुछ' होता है, सब नहीं। पंडित जी ने स्वयं कहा है कि केवल यह उद्धरण (उपर्युक्त) वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता, शेष मिलते हैं। किन्तु डॉ० सागरमल जी ने पण्डित जी के कथन का यह अभिप्राय ले

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

लिया कि वे यापनीयों द्वारा मान्य आगमों को श्वेताम्बरमान्य आगमों से सर्वथा भिन्न मानते हैं और उन्होंने पण्डित जी पर अतिसाहस करने का आक्षेप कर दिया। जब कि आगे डॉक्टर सा० ने स्वयं स्वीकार किया है कि "निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है।" वे सफाई देते हुए आगे कहते हैं "किन्तु **सव्वसमन्नागय** नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है।" (जै. ध. या. स./पृ.७२)। किन्तु किस पाठ या सूत्र में सुरक्षित है, यह नहीं बतलाया। मैंने भी आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन की सूक्ष्मता से छानबीन की है, किन्तु उपर्युक्त पाठ के अर्थ को सुरक्षित रखनेवाला कोई भी पाठान्तर या शब्दावली उपलब्ध नहीं हुई। **सव्वसमन्नागय** पद जिस पाठ में है, उसके अर्थ का तो उपर्युक्त पाठ के अर्थ से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। वह पाठ इस प्रकार है—

"जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए सेऽवि तत्थ वि अंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।"[१६०]

इसका भावार्थ प्रकाशित करते हुए मुनि श्री सौभाग्यमल जी लिखते हैं—"साधना के कठिन मार्ग में चलते हुए साधक को कभी ऐसा मालूम पड़े कि मैं परीषह और उपसर्गों से घिर गया हूँ और उन्हें सहन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, तो ऐसे प्रसंग पर उसे प्रथम तो अपनी समस्त बुद्धि द्वारा सोचकर (**सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना**) जहाँ तक बने वहाँ तक उपसर्ग से बच निकलना चाहिए, परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। यदि किसी भी तरह बचने की सम्भावना न हो, तो **वैहानसादि** (अकाल) मरण से मर जाना चाहिये, परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। इस प्रसंग का आकस्मिक मरण भी अनशन और मृत्युकाल के मरण के समान निर्दोष और हितकर्त्ता है। इस तरह मरण की शरण होनेवाले मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। कतिपय निर्मोही आत्माओं ने ऐसे प्रसंग पर मरण का शरण लिया है इसलिए यह हितकारी, सुखकारी, युक्तियुक्त, कर्मक्षय का हेतुभूत और भवान्तर में भी पुण्यप्रद है, ऐसा मैं कहता हूँ।[१६०]

उपर्युक्त पाठ (वि. टी. / भ. आ. / गा. ४२३) के अर्थ का इस पाठ के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः डॉक्टर सा० का यह कथन प्रमाणित नहीं होता कि

---

१६०. आचारांग (प्र. सं.) १/८/४/पृ. ५३६-३७/ श्री जैन साहित्य समिति नयापुरा, उज्जैन/ वि. सं. २००७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में शब्दशः नहीं है, किन्तु उसका अर्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में सुरक्षित है।" इसलिए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जो कहा है वह सत्य सिद्ध होता है, अर्थात् यापनीयमान्य-श्वेताम्बर-आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से पाठ की अपेक्षा किंचित् भिन्न थे।

पण्डित जी ने पूर्वोक्त **'परिचत्तेसु वत्थेसु'** आदि दो गाथाओं को उत्तराध्ययन की गाथाएँ कहा है। इस पर भी डॉक्टर सा० ने आक्षेप किया है कि "आदरणीय पण्डित जी को यह भ्रान्ति कैसे हो गयी कि वे उत्तराध्ययन की गाथाएँ हैं?" (जै. ध. या. स./पृ.७३)। वस्तुतः विजयोदयाटीका में उन्हें परीषहसूत्र कहा गया है[१६१] और पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उनका अस्तित्व 'उत्तराध्ययन' में बतलाया है तथा उत्तराध्ययन की गाथाओं के रूप में ही उन्हें पादटिप्पणी में उद्धृत किया है।[१६२] अतः पण्डित कैलाशचन्द्र जी का उन्हें 'उत्तराध्ययन' की गाथाएँ कहना कोई भ्रान्ति नहीं है, अपितु यथार्थ है। आश्चर्य तो यह है कि आगे डॉक्टर सा० स्वयं भावरूप में उनका अस्तित्व उत्तराध्ययन में बतलाते हैं। वे लिखते हैं—

"पुनः ये गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्दरूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपर्युक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं इदं भिक्खु न चिन्तए॥ २/१२॥

एगया अचेलए होइ सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए॥ २/१३॥"

(जै.ध.या.स./ पृ.७३)

इन गाथाओं का पूर्वोक्त गाथाओं से न तो शब्दसाम्य है, न व्याकरणसाम्य, न अर्थसाम्य। शब्दसाम्य और व्याकरणसाम्य का अभाव तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है। अर्थसाम्य का अभाव नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है।

---

१६१. "इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति—'परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए---।" विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / 'आचेलक्कुद्देसिय' गा. ४२३।

१६२. "इसके बाद कहा है कि परीषह-सूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत-दंशमशक-तृणस्पर्श-परीषहों के सहन के वचन हैं, वे सब अचेलता के साधक हैं। क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं उन्हें शीतादि की बाधा होती ही नहीं है।" जै. सा. इ./ प्र. सं./ पृ. ५०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

'परिचत्तेसु वत्थेसु' गाथाओं का अर्थ—"वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता। भिक्षु अचेल होकर सदा जिनरूप धारण करता है। भिक्षु ऐसा विचार नहीं करता कि सवस्त्र सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी, इसलिए मैं वस्त्र धारण करूँगा।"

'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं' गाथाओं का अर्थ—"वस्त्र परिजीर्ण हो जाने पर मैं निर्वस्त्र हो जाऊँगा अथवा मैं सवस्त्र होऊँगा, भिक्षु को ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भिक्षु कभी सवस्त्र हो जाता है, तो कभी निर्वस्त्र। धर्म के इस मर्म को समझकर ज्ञानी को दुःखी नहीं होना चाहिए।"

इन दोनों अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। पूर्व गाथाओं में वस्त्रत्याग देने पर सदा निर्वस्त्र रहने पर जोर दिया गया है, जबकि उत्तरगाथाओं में सदा निर्वस्त्र रहने पर बल नहीं दिया गया, अपितु जब तक नये वस्त्र प्राप्त न हों, तब तक निर्वस्त्र रहने में दुःख न करने पर जोर दिया गया है। अर्थात् उत्तरगाथाओं में निर्वस्त्रता मोक्ष की दृष्टि से आवश्यक नहीं मानी गई है, जब कि पूर्व गाथाओं में मोक्ष की दृष्टि से आवश्यक मानी गयी है। इस तरह पूर्वनिर्दिष्ट और उत्तरनिर्दिष्ट गाथायुग्मों में शब्द और अर्थ, दोनों दृष्टियों से साम्य नहीं है। अतः डॉक्टर सा० का यह कथन समीचीन नहीं है कि पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने वर्तमान उत्तराध्ययन में जिन गाथाओं का अभाव बतलाया है, वे 'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं' आदि गाथाओं के रूप में उत्तराध्ययन में विद्यमान हैं। **तथ्य यह है कि निरपवाद अचेलत्व की पोषक होने से उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन से बहिष्कृत कर दिया गया।** अतः सिद्ध है कि यापनीयमान्य-श्वेताम्बर-आगम वर्तमान-श्वेताम्बर-आगमों से पाठ की दृष्टि से कुछ भिन्न थे।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयों के पास माथुरीवाचना के आगम होने का अनुमान लगाया है। इस पर भी डॉक्टर सा० ने आपत्ति दर्ज की है। उनका कहना है कि "यापनीयों के पास स्कन्दिल (श्वेताम्बराचार्य) की माथुरीवाचना के आगम थे, यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कन्दिल की वाचना का काल वीर नि० संवत् ८२७-८४० अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थ शती का प्रारम्भ है, जब कि संघभेद उसके लगभग २०० वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। अतः प्रो० ढाकी की यह मान्यता उचित ही है कि वह वाचना फल्गुमित्र की रही होगी। यापनीयों ने उसमें अपने मन्तव्यों के अनुसार कुछ प्रक्षेप भी किया होगा। यद्यपि फल्गुमित्र की परम्परा की इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।" (जै. ध. या. स. / पृ.७५)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यापनीयों के पास माथुरीवाचना के आगमों का सद्भाव मानने में डॉक्टर सा० को जो बाधा दिखाई देती है, उसका कारण उनकी यह मान्यता है कि बोटिक यापनीय थे। बोटिकों को यापनीय मान लेने पर यह सिद्ध होता है कि यापनीयसम्प्रदाय का उदय प्रथम शताब्दी ईसवी में हुआ था। फलस्वरूप उनकी उत्पत्ति के २०० वर्ष बाद हुई माथुरीवाचना के आगम उनके पास माने जायँ, तो उसके पहले तक उनके पास आगमों का अभाव मानना होगा। किन्तु डॉक्टर सा० की बोटिकों को यापनीय मानने की परिकल्पना निराधार सिद्ध हो चुकी है और उन्होंने ही अपनी वाणी से स्वीकार कर लिया है कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवी शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में हुई थी। (देखिये, पूर्व प्रकरण १/शी. १०)। अतः अपनी उत्पत्ति से सौ वर्ष पूर्व हुई माथुरीवाचना के आगम यापनीयों के पास थे, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। इससे प्रो० ढाकी की यह परिकल्पना भी निराधार सिद्ध हो जाती है कि यापनीयों के पास फल्गुमित्र की वाचना के आगम रहे होंगे। आश्चर्य तो यह है कि डॉक्टर सा० ने यह जानते हुए भी कि फल्गुमित्र की वाचना का आगम में कहीं कोई उल्लेख नहीं हैं, प्रो० ढाकी की इस निराधार परिकल्पना को उचित मान लिया है। यापनीयों के लिए अन्त तक मथुरावाचना के ही आगम मान्य रहे हैं, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण यह है कि यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में मथुरागम को ही प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[१६३]

४

यापनीय-मान्य आगमों की भाषा शौरसेनी

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि 'भगवती आराधना' की विजयोदयाटीका में माथुरीय श्वेताम्बर-आगमों से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। इससे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आगम मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध किये गये थे। पश्चात् पाँचवीं शती ई० की वलभीवाचना में उनका अर्धमागधीकरण कर दिया गया। किन्तु यह डॉ० सागरमल जी की मान्यता के विरुद्ध है, इसलिए उन्होंने यह उद्भावना की है कि आगम तो मूलतः अर्धमागधी प्राकृत में ही रचे गये थे, किन्तु यापनीयों ने उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित कर दिया। वे लिखते हैं—

"विजयोदया के आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती

१६३. अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरागमः (माहुरागमे) सिद्धिः (सिद्धम्)।
स्त्रीणां न मनुष्ययोगे गौणार्थो मुख्यहानिर्वा॥३४॥ स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हैं, प्रथम यही है कि माथुरीवाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरी यह है कि यापनीयों ने उन आगमों का शौरसेनीकरण करके श्वे० परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें अपनी परम्परा के अनुरूप कुछ पाठभेद रखा हो।'' (जै. ध. या. स./ पृ.७३-७४)।

''आराधना की टीका में उद्धृत इन (उत्तराध्ययन की) गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधीरूप ही मिलता।'' (जै. ध. या. स./ पृ. ७४)।

लेकिन, जैन-बौद्धदर्शनों एवं पालि-प्राकृत भाषाओं के अन्तरराष्ट्रीयख्यातिप्राप्त वरिष्ठ श्वेताम्बर विद्वान् **डॉ० नथमल जी टाँटिया** ने डाक्टर सागरमल जी के उपर्युक्त विचारों से ठीक विपरीत विचार व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं—

''श्रमणसाहित्य का प्राचीन रूप, चाहे वे बौद्धों के 'त्रिपिटक' आदि हों, श्वेताम्बरों के 'आचारांगसूत्र', 'दशवैकालिक सूत्र' आदि हों अथवा दिगम्बरों के 'षट्खण्डागमसूत्र', 'समयसार' आदि हों, वे सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। श्वेताम्बरजैन-साहित्य का भी प्राचीनरूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः 'अर्धमागधी' में बदला गया। **यदि हम वर्तमान अर्धमागधी-आगम-साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर-आगमसाहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधीभाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगमसाहित्य को भी ५०० वर्ष ई० के परवर्ती मानना पड़ेगा। आचारांगसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जब कि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्द्धमागधीकरण हो गया है।**''[१६४]

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य ने भी लिखा है कि ''वर्तमान श्वेताम्बर-आगमसाहित्य के जो ग्रन्थ अर्धमागधी में उपलब्ध होते हैं, वह अर्धमागधी तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि की भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गठित हुआ है।'' (ती. म. आ. प. / खं. १/ पृ. २४०)। इसे उन्होंने '**प्राकृतभाषा और**

---

१६४. क—'प्राकृतविद्या' जनवरी-मार्च, १९९६ / श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन) नई दिल्ली।
ख—'जिनागमों की मूलभाषा'/ प्राकृत टेस्ट सोसायटी, अहमदाबाद / पृष्ठ १२८।
ग— डॉ० सुदीप जैन : 'खरा सो मेरा' (कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, १९९९ ई०)/ पृ. ५ पर उद्धृत।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में और स्पष्ट करते हुए कहा है—

''जैन आगम की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है, क्योंकि भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा भी अर्धमागधी थी; पर उस प्राचीन अर्धमागधी का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी आज उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर-आगमग्रंथों में आज जो अर्धमागधी का स्वरूप उपलब्ध है, उसका गठन देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में सम्पन्न वलभी नगर के मुनिसम्मेलन में हुआ है। यह सम्मेलन वीर-निर्वाण-संवत् ९८० में हुआ था। इस मुनिसम्मेलन ने आगमग्रन्थों को सुसम्पादित किया। अत: भाषा और विषय इन दोनों ही क्षेत्रों में कुछ बातें पुरानी बनी रह गयीं और कुछ नवीन बातें भी जोड़ी गयीं। यही कारण है कि पद्य-भाग की भाषा गद्य-भाग की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। आयारंगसुत्त, सूयगडंगसुत्त एवं उत्तराज्झयणसुत्त की भाषा में पर्याप्त प्राचीन तत्त्व उपलब्ध हैं।'' (पृ.३१)।

वे आगे लिखते हैं—''सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी से हुआ। हार्नले ने समस्त प्राकृत बोलियों को दो वर्गों में बाँटा है। एक वर्ग को उसने शौरसेनी-प्राकृत-बोली और दूसरे वर्ग को मागधी-प्राकृत-बोली कहा है। इन बोलियों के क्षेत्रों के बीचोंबीच उसने एक प्रकार की एक रेखा खींची, जो उत्तर में खालसी से लेकर वैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँ से दक्षिण को रामगढ़ होते हुए जौगढ़ तक गयी है। ग्रियर्सन उक्त मत से सहमत होते हुए लिखते हैं कि उक्त रेखा के पास आते-जाते शनै:-शनै: ये दोनों प्राकृतें आपस में मिल गयीं और इसका परिणाम यह हुआ कि इनके मेल से एक तीसरी बोली उत्पन्न हुई, जिसका नाम अर्धमागधी पड़ा।'' (वही पृ./ ३४)।

ज्योतिषाचार्य जी आगे बतलाते हैं—''मार्कण्डेय ने अर्धमागधी भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है ''**शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी**'' (प्राकृतसर्वस्व/ पृ.१०३)। अर्थात् शौरसेनी भाषा के निकटवर्त्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है। --- अभयदेव ने **उवासगदसाओ** की टीका में मागधी के पूर्ण लक्षणों को न पाकर लिखा है—''**अर्धमागधी भाषा यस्यां रसोरलशौ मागध्यामित्यादिकं मागधभाषा-लक्षणं परिपूर्णं नास्ति।**'' अर्थात् अर्धमागधी वह भाषा है, जिसमें मागधी के पूर्ण लक्षण रकार और सकार के स्थान पर लकार और शकार नहीं पाये जाते। स्पष्ट है कि अभयदेव भी अर्धमागधी का रूप मागधी-मिश्रित शौरसेनी मानते हैं।'' (वही / पृ.३५)।

ज्योतिषाचार्य जी ने आगे लिखा है—''अर्धमागधी ध्वनितत्त्व, रूपतत्त्व, शब्दसम्पत्ति एवं अर्थतत्त्व की दृष्टि से प्राचीन शौरसैनी और प्राचीन मागधी का मिश्रित रूप है। अर्धमागधी नाम भी इस तथ्य का सूचक है कि इस भाषा में मागधी के आधे ही

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

लक्षण वर्तमान हैं। शेष आधे लक्षण प्राचीन शौरसेनी के हैं। इन दोनों भाषाओं के मेल से निष्पन्न अर्धमागधी भाषा है।" (वही/ पृ.३७)।

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"उपलब्ध अर्धमागधी का स्वरूपगठन मागधी और प्राचीन शौरसेनी के मिश्रण के आधार पर किया गया है। पर भगवान् महावीर का उपदेश जिस अर्धमागधी में होता था, वह अर्धमागधी यह नहीं है। उस प्राचीन अर्धमागधी का स्वरूप अनेक भाषाओं के मिश्रण से तैयार हुआ था। अर्धमागधी शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि इसके स्वरूप में आधे लक्षण मागधी के तथा आधे इतर भाषाओं के मिश्रित थे। जिनसेनाचार्य ने इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती।
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीति विहितान्धमतान्धकारा॥

आदिपुराण २३/१५४।

"अर्थात् यह भाषा अर्धमागधी समस्त भाषाओं के रूप का परिणमन करती है। इसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण होने से शीघ्र ही तत्त्वज्ञान को समझ लेने की शक्ति वर्तमान है। यह स्याद्वादरूपी नीति के द्वारा समस्त विवादों का निराकरण करनेवाली है।

"अत एव यह स्पष्ट है कि **प्राचीन शौरसेनी या जैनशौरसेनी उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा प्राचीन** है और इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में सर्वत्र था।" (वही/पृ.४४)।

प्राकृतभाषा एवं जैनविद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हीरालाल जी जैन लिखते हैं—"उपर्युक्त (आचारांगादि) ४५ आगमग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्धमागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है—जो भाषा आधे मगधप्रदेश में बोली जाती थी अथवा जिसमें मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थीं। यथार्थतः ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएँ थीं— १. उसमें र का उच्चारण ल होता था, २. तीनों प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल 'श' ही पाया जाता था; और ३. अकारान्त कर्ताकारक एकवचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों में से अर्द्ध-मागधी में कर्त्ताकारक की एकारविभक्ति बहुलता से पायी जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनों सकारों के स्थान पर तालव्य 'श'-कार न हो, दन्त्य 'स'-कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा में मागधी की आधी प्रवृत्तियाँ कहीं जा सकती हैं। इसकी शेष

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध के पश्चिम प्रदेश में रहा होगा। विद्वानों का यह भी मत है कि मूलत: महावीर एवं बुद्ध दोनों के उपदेशों की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समानरूप से सुबोध हो सके होंगे। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगमग्रन्थों में हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नहीं मिलता। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्यभाषा में संयुक्त व्यंजनों के समीकरण अथवा स्वरभक्ति आदि विधियों से भाषा का सरलीकरण तो प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसमें वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्यभाषा के दूसरे स्तर में प्रारंभ हुई मानी जाती है, जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगमग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियों से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टत: ये प्रवृत्तियाँ कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमें समाविष्ट हो गई हैं।'' (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ. ७०-७१)।

षट्खण्डागम के सम्पादकीय में भी डॉ० हीरालाल जी जैन ने यही बात कही है—''वस्तुत: जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी, यदि किसी जैन ग्रन्थ की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्य में ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचना में दिखाई नहीं देती, क्योंकि उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryans) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है, जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शती से पूर्व हुआ ही नहीं था, उदाहरणार्थ, **पण्णवणासुत्त** में आये 'लोए' (लोके), 'भयवया' (भगवता), 'सुय' (श्रुत), 'दिटिवाय' (दृष्टिवाद), 'ठिई' (स्थिति), 'वेयणा' (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुति के आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शती से पूर्व की प्राकृत भाषाओं में नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओं का स्वरूप हमें पालि-त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुंग और आंध्रवंशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकों में मिलता है, जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दूसरी शती के पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन-प्राकृत-साहित्य में प्रचुरता से प्रयोग के कारण पिशेल आदि विद्वानों ने जैन प्राकृत रचनाओं की भाषाओं को जैनमहाराष्ट्री व जैनशौरसेनी की संज्ञा दी है। अत: इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में **पण्णवणासुत्त** की रचना को द्वितीय शती से पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।'' (सम्पादकीय/पृ.९/ष.ख./पु.१)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन तथ्यों को देखते हुए यदि यह माना जाय कि श्वेताम्बर-आगमसाहित्य आरम्भ से ही अर्धमागधी में निबद्ध था, तो वह पाँचवीं या दूसरी शताब्दी ई० के बाद रचा हुआ सिद्ध होगा। इसके पूर्व किसी भी रूप में, किसी भी भाषा में उसका अस्तित्व प्रमाणित न हो सकेगा। किन्तु हम देखते हैं कि ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई पाटलिपुत्र-वाचना के समय से श्वेताम्बर-आगमसाहित्य श्रुतिपरम्परा से चला आ रहा था और ईसा की चतुर्थ शती के आरंभ में जो दूसरी वाचना मथुरा में हुई थी, उसमें पुनः संकलित आगमसाहित्य शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था, यह 'भगवती-आराधना' की विजयोदयाटीका में दिये गये उद्धरणों से सिद्ध है। अतः यही सिद्ध होता है कि **श्वेताम्बर-आगमसाहित्य की मूलभाषा शौरसेनी थी, जिसे श्री देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में हुई वलभीवाचना में अर्धमागधी में रूपान्तरित कर दिया गया।**

५

यापनीयसंघ का लोप क्यों हुआ?

इस विषय में माननीय पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—"इस संघ का लोप कब हुआ और किन-किन कारणों से हुआ, इन प्रश्नों का उत्तर देना तो बहुत परिश्रमसाध्य है, परन्तु अभी तक की खोज से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कागबाड़े के श० सं० १३१६ (वि० स० १४५१) के शिलालेख में, जो जैनमन्दिर के भौंहिरे में है, यापनीयसंघ के धर्मकीर्ति और नागचन्द्र के समाधिलेखों का उल्लेख है। इनके गुरु नेमिचन्द्र को तुलुब-राज्य-स्थापनाचार्य की उपाधि दी हुई है, जो इस बात की द्योतक है कि वे एक बड़े राजमान्य व्यक्ति थे और इसलिए संभव है कि उनके बाद भी सौ पचास वर्ष तक इस सम्प्रदाय का अस्तित्व रहा हो।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. ४२)।

मेरी दृष्टि से इस सम्प्रदाय के लोप के बीज इसकी सैद्धान्तिक असंगतता और साधुओं की गृहस्थवत् लौकिक प्रवृत्तियों में अन्तर्निहित थे।

यापनीयमत अत्यन्त अयुक्तिसंगत मत था। जैसा कि डॉ० सागरमल जी का मानना है, वह दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच योजक कड़ी के रूप में विकसित हुआ था,[१६५] अर्थात् उसने आधे दिगम्बरत्व और आधे श्वेताम्बरत्व को लेकर एक संयुक्त मोक्षमार्ग बनाने का प्रयत्न किया था। यह दो भिन्नजातीय पुरुषों के आधे-आधे शरीर को लेकर एकजातीय, एक पुरुष का शरीर बनाने की चेष्टा थी, जो अस्वाभाविक होने के कारण सफल नहीं हुई। मोक्ष की दृष्टि से न तो वह अचेलत्व का ही औचित्य सिद्ध कर सका, न सचेलत्व का ही। जब वस्त्रधारण मोक्ष में बाधक नहीं है, तब

१६५. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / लेखकीय / पृ.v।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

नग्न रहने का औचित्य क्या है? और यदि नग्नत्व से ही मोक्ष संभव है, तो सवस्त्रता के अपवादमार्ग की गुंजाइश कहाँ है? इन तर्कों का यापनीयों के पास कोई उत्तर नहीं था। इसलिए अपने-अपने दर्शन पर दृढ़ रहनेवाले दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों यापनीयमत की ओर आकृष्ट नहीं हुए। तथा आगे चलकर भिक्षादि की सुविधा के लिए भी नग्नत्व अनिवार्य नहीं रह गया था, क्योंकि श्वेताम्बर साधुओं को भरण-पोषण के लिए राजाओं से ग्रामादि दान में मिलने लगे थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में मठवासी और चैत्यवासी साधुओं के सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे, जो मन्त्र-तन्त्र, पूजा-विधान आदि के चमत्कारों से राजा-प्रजा दोनों को प्रभावित कर उनसे भूमि-ग्राम आदि का दान प्राप्त करने लगे थे। इस प्रकार उन्होंने शानशौकत-भरी जिन्दगी जीने की स्थायी व्यवस्था कर ली थी। इसलिए यापनीय बनने का यह आकर्षण भी नहीं रहा। फिर उनके बेमेल मत पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की ओर से प्रहार होते रहे होंगे। यद्यपि नग्नत्व को छोड़कर उनके सभी सिद्धान्त श्वेताम्बरों के अनुकूल थे, इसलिए उनके साथ उनका अधिक विसंवाद और विरोध नहीं था, तथापि जिनकल्प या अचेलत्व की मान्यता को लेकर श्वेताम्बर उन पर यदा-कदा प्रहार अवश्य करते होंगे। दिगम्बरों ने तो उन्हें जैनाभास ही घोषित कर दिया था, अतः उनकी गर्हा-निन्दा का पात्र तो यापनीयों को बनते ही रहना पड़ता होगा। इसके अतिरिक्त कुछ समझदार यापनीयों को भी अपना बेमेल सिद्धान्त अरुचिकर लगने लगा होगा और बहुसंख्यक दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच में अल्पसंख्यक बनकर जीना भी कठिन हो रहा होगा। इसके अतिरिक्त उनके प्रभावहीन हो जाने से राजाश्रय भी छिन गया होगा। इन कारणों से वे अपना सम्प्रदाय छोड़कर अपनी-अपनी अनुकूलता के अनुसार या तो दिगम्बरों में मिल गये और उनके सिद्धान्त अपना लिये या श्वेताम्बरों के सिद्धान्तों और वेश का एकान्ततः वरण कर उनमें शामिल हो गये। इस तरह ईसा की १५वीं शती के बाद यापनीय-सम्प्रदाय का लोप हो गया।[१६६] माननीय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया जी ने भी माना है कि जब यापनीयों के कई विचारों और आचारों का दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के द्वारा विरोध होने लगा, तो उन्हें इन दोनों में, खासकर दिगम्बरों में मिल जाना पड़ा।[१६७]

---

१६६. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास / प्र. सं. / पृ.४२।

१६७. प्रकाशकीय / पृ. ३ / यापनीय और उनका साहित्य : डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पञ्चम प्रकरण

यापनीयग्रन्थ के लक्षण

कतिपय दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने **भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थ-सूत्र, षट्खण्डागम** आदि दिगम्बरजैन-ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने इसके पक्ष में जो हेतु बतलाये हैं, उनमें से अनेक यापनीयग्रन्थ के लक्षण नहीं हैं और जो यापनीयग्रन्थ के लक्षण हैं, वे उक्त ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। अतः दिगम्बरग्रन्थ और यापनीयग्रन्थ के भेद की पहचान के लिए यह निश्चय करना आवश्यक है कि यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण क्या हैं?[१६८]

जो धर्म केवल विवक्षित वस्तु में हो, अन्य वस्तुओं में न हो, वह उस वस्तु का असाधारण धर्म या लक्षण कहलाता है।[१६९] अतः जिन धर्मों या विशेषताओं का अस्तित्व केवल यापनीयमत के ग्रन्थ में संभव है, अन्य मत के ग्रन्थ में नहीं, वे यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण हैं। किसी ग्रन्थ के यापनीयग्रन्थ होने या न होने का निर्णय इन असाधारणधर्मरूप हेतुओं की उपलब्धि या अनुपलब्धि से होता है।

इसके विपरीत जो धर्म यापनीयग्रन्थ का असाधारणधर्म नहीं है, अपितु यापनीयेतरग्रन्थों में भी उपलब्ध है या हो सकता है, वह किसी ग्रन्थ के यापनीयग्रन्थ होने या न होने का निर्णायक हेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास या अहेतु है।

नीचे उन धर्मों या विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है, जो यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण हैं, जिनके सद्भाव या अभाव से यह निर्णय होता है कि अमुक ग्रन्थ यापनीयमत का है या नहीं। यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को मानते थे, इसलिए दिगम्बरमुनियों के समान मयूरपिच्छिका-सहित वैकल्पिक नग्नवेश एवं पाणितलभोजित्व की स्वीकृति के अतिरिक्त उनकी प्रायः सभी मान्यताएँ वे ही थीं, जो श्वेताम्बरों की हैं। अतः यापनीयग्रन्थ वह है—

१. जो श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादक होते हुए भी श्वेताम्बरग्रन्थ न हो, अर्थात् जिसे श्वेताम्बरों ने अपना ग्रन्थ न माना हो।

---

१६८. "व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।" न्यायदीपिका / १ / ३ / पृ. ५-६।

१६९. क— "असाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नो --- जीवो नाम पदार्थः।" आत्मख्याति / समयसार / गा. २

ख— "लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्।" केशवमिश्र : तर्कभाषा / उपोद्घात। पृ. ८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२. जिसमें अचेलता और सचेलता को समानरूप से मोक्ष का मार्ग माना गया हो अथवा जिसमें प्रतिपादित नियमों और मान्यताओं के अनुसार सवस्त्रमुक्ति का निषेध न होता हो।

३. जिसमें स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति का प्रतिपादन हो अथवा प्रतिपादित नियमों और मान्यताओं के द्वारा इनका निषेध न होता हो।

४. जिसमें गुणस्थान-व्यवस्था को मान्यता न दी गयी हो अर्थात् जिसमें गुणस्थानक्रम से रत्नत्रय का चरमविकास हुए बिना भी मुक्ति स्वीकार की गई हो। सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, सम्यग्दृष्टि जीव की स्त्रियों में उत्पत्ति तथा स्त्री को तीर्थंकरपद की प्राप्ति मानना गुणस्थान-व्यवस्था को मान्यता न देने का प्रमाण है।

५. जिसमें वेदत्रय एवं वेदवैषम्य को अमान्य किया गया हो।

६. जिसमें 'मनुष्यिनी' शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में न करके केवल द्रव्यस्त्री के अर्थ में किया गया हो।

७. जिसमें वस्त्रपात्रादि-द्रव्यपरिग्रह को परिग्रह न माना गया हो।

८. जिसमें अन्यदृष्टिप्रशंसा (अन्यमतप्रशंसा) और अन्यदृष्टिसंस्तव (अन्यमतसमर्थन) का निषेध न हो।

९. जिसमें तीर्थंकरप्रकृति के बन्धक सोलह कारणों के स्थान में बीस कारण माने गये हों।

१०. जिसमें 'कल्प' नामक स्वर्गों की संख्या १६ और १२ दोनों न मानकर केवल १२ ही मानी गयी हो।

११. जिसमें 'अनुदिश' नामक नौ स्वर्ग स्वीकार न किये गये हों।

१२. जिसमें श्वेताम्बर-आगमों को मान्य किया गया हो और यापनीयमत के समर्थन में उनसे उद्धरण दिये गये हों। (किन्तु जिस ग्रन्थ में श्वेताम्बर-आगमों को मूल आगम न मानते हुए भी उनके किसी उद्धरण से एकान्त-अचेलमुक्तिवाद का समर्थन या तद्विरोधी मत का खण्डन किया गया हो अथवा अन्य किसी प्रयोजन से उनका कोई वचन उद्धृत करने पर भी एकान्त-अचेलमुक्तिवाद का विरोध न होता हो, तो उसे यापनीयग्रन्थ नहीं माना जा सकता, दिगम्बरग्रन्थ ही मानना होगा)।

१३. जिसमें स्त्री को तद्भव-मुक्तियोग्य मानते हुए निश्चयनय से (उपचार से नहीं) छेदोपस्थापनीय-चारित्र अर्थात् महाव्रतों के योग्य माना गया हो।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१४. जिसमें भगवान् महावीर के गर्भापहरण, विवाह आदि का समर्थन हो।

१५. जिस ग्रन्थ के कर्त्ता के गण, अन्वय आदि यापनीयों से सम्बद्ध हों, और ग्रन्थ भी यापनीयमत का समर्थक हो या विरोधी न हो।

१६. जिसमें क्षुल्लक को श्रावक न मानकर अपवादलिंगधारी मुनि कहा गया हो।

१७. जिसमें रुग्ण या वृद्ध मुनि के लिए पात्रादि में आहार लाकर देने का उल्लेख हो। (यदि ऐसे उल्लेख से श्रावकों के द्वारा आहार मँगवाकर रुग्ण या वृद्ध मुनि को दिलाये जाने की संगति बैठती हो और ग्रन्थ के अन्य सिद्धान्त यापनीयमत-विरोधी हों, तो उसे यापनीयग्रन्थ नहीं माना जा सकता, वह दिगम्बरग्रन्थ ही है।)

यापनीय ग्रन्थ के प्रायः ये ही लक्षण डॉ० सागरमल जी ने भी निर्दिष्ट किये हैं। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे हेतु भी बतलाये हैं, जो यापनीयग्रन्थ के असाधारण धर्म नहीं हैं।[१७०] उनका यथास्थान निरसन किया जायेगा।

---

१७०. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. ८१-८२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शब्दविशेष-सूची

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथमखण्डान्तर्गत प्रथम अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक आये विशिष्ट शब्दों (व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों, लेखों, अभिलेखों, कथाओं, सम्प्रदायों, गणगच्छों इत्यादि के वाचक तथा पारिभाषिक शब्दों) की सूची नीचे दी जा रही है। इसमें पादटिप्पणीगत शब्द भी समाविष्ट हैं। दो पृष्ठांकों के बीच में प्रयुक्त योजक-चिह्न (-) बीच के पृष्ठों का सूचक है।

अ

अकलङ्कदेव (भट्ट) १३१, १३२
अंगुत्तरनिकायपालि ३१९-३२१, ३२४, ३२५
अग्गिवेस्सन (अग्निवेश, निगण्ठपुत्त सच्चक का नामान्तर) ३२६
अग्रावतार (कटिवस्त्र, श्वे० साधु) ३७०
अचेल, अचेलक ४, १७-१९, २५, ३९, ८४, १३८, १६०, २८८, ३१२, ३२२, ३२४, ३२५
अचेल (सर्वथा निर्वस्त्र—आचारांग) १६२, १६३
अचेल (अल्पचेल—शीलांकाचार्य) १६२
अचेल (सद्-अचेल, असद्-अचेल) १५९, १७६
अचेल (मुख्यवृत्त्या अचेल, उपचारतः अचेल) १७७
अचेलक (श्वेतजीर्णप्राय-वस्त्रधारी) १७९
अचेलकधर्म १०६
अचेल कस्सप (काश्यप)—एक निर्ग्रन्थ मुनि ३२५, ३२९
अचेलतीर्थ ८, १९
अचेलत्व (ता) ३९, ९३, १५५
अचेलत्व, अचेलता (मुख्य, औपचारिक) ७, १७७
अचेलपरम्परा १५५
अचेललिंग ७३
अचेलश्रावक (अचेलकों के श्रावक) ३२०
अचेल-सचेलधर्म (उत्त. सू.) १६०
अजातशत्रु ३१५, ३१६
अजितकुमार शास्त्री (पं०) २५०, ३७१
अजितकेसकम्बल (उच्छेदवादी) ३१४-३१६, ३३३
अथर्ववेद २४८
अदरगुंचि-अभिलेख २७७
अध्यात्मनिष्ठ २७७
अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा ३९२
अनेकान्तवाद २६२, २६८
अनेकान्त (मासिक पत्र) १६६, २८१, ३९८, ४३४, ५०४, ५१०, ५१८, ५२६, ५३१, ५७४
अन्धकवृष्णि ३७४
अन्यतीर्थिक (अन्यमत-प्रवर्तक तीर्थंकर—छह) ३५, ३८, ३१४, ३१५, ३१७
अपदान (बौद्धग्रन्थ) १०७, ११५, १४५, २९७, ३१३
अपभ्रंशमय शास्त्र २९९
अपराजित (श्रुतकेवली) १३२, ४५२
अपराजितसूरि (विजयोदयाटीकाकार) १२३, १२५, १४४, १५७

शब्दविशेष-सूची

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथमखण्डान्तर्गत प्रथम अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक आये विशिष्ट शब्दों (व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों, लेखों, अभिलेखों, कथाओं, सम्प्रदायों, गणगच्छों इत्यादि के वाचक तथा पारिभाषिक शब्दों) की सूची नीचे दी जा रही है। इसमें पादटिप्पणीगत शब्द भी समाविष्ट हैं। दो पृष्ठांकों के बीच में प्रयुक्त योजक-चिह्न (–) बीच के पृष्ठों का सूचक है।

अ

अकलङ्कदेव (भट्ट) १३१, १३२
अंगुत्तरनिकायपालि ३१९–३२१, ३२४, ३२५
अग्गिवेस्सन (अग्निवेश, निगण्ठपुत्त सच्चक का नामान्तर) ३२६
अग्रावतार (कटिवस्त्र, श्वे० साधु) ३७०
अचेल, अचेलक ४, १७–१९, २५, ३९, ८४, १३८, १६०, २८८, ३१२, ३२२, ३२४, ३२५
अचेल (सर्वथा निर्वस्त्र—आचारांग) १६२, १६३
अचेल (अल्पचेल—शीलांकाचार्य) १६२
अचेल (सद्-अचेल, असद्-अचेल) १५९, १७६
अचेल (मुख्यवृत्त्या अचेल, उपचारतः अचेल) १७७
अचेलक (श्वेतजीर्णप्राय-वस्त्रधारी) १७९
अचेलकधर्म १०६
अचेल कस्सप (काश्यप)—एक निर्ग्रन्थ मुनि ३२५, ३२९
अचेलतीर्थ ८, १९
अचेलत्व (ता) ३९, ९३, १५५
अचेलत्व, अचेलता (मुख्य, औपचारिक) ७, १७७
अचेलपरम्परा १५५
अचेललिंग ७३
अचेलश्रावक (अचेलकों के श्रावक) ३२०
अचेल-सचेलधर्म (उत्त. सू.) १६०
अजातशत्रु ३१५, ३१६
अजितकुमार शास्त्री (पं०) २५०, ३७१
अजितकेसकम्बल (उच्छेदवादी) ३१४–३१६, ३३३
अथर्ववेद २४८
अदरगुंचि-अभिलेख २७७
अध्यात्मनिष्ठ २७७
अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा ३९२
अनेकान्तवाद २६२, २६८
अनेकान्त (मासिक पत्र) १६६, २८१, ३९८, ४३४, ५०४, ५१०, ५१८, ५२६, ५३१, ५७४
अन्धकवृष्णि ३७४
अन्यतीर्थिक (अन्यमत-प्रवर्तक तीर्थंकर—छह) ३५, ३८, ३१४, ३१५, ३१७
अपदान (बौद्धग्रन्थ) १०७, ११५, १४५, २९७, ३१३
अपभ्रंशमय शास्त्र २९९
अपराजित (श्रुतकेवली) १३२, ४५२
अपराजितसूरि (विजयोदयाटीकाकार) १२३, १२५, १४४, १५७

अपवाद (आपवादिक) लिंग— यापनीय मुनि का सचेललिंग ४९३, ४९६
अपशकुन (दि० जैन मुनि के दर्शन) २७०, २७१, ३०४
अफगानिस्तान ४०१, ४०२
अभिजातियाँ (मनुष्यों की, छह / बौद्ध-साहित्य)—तृष्णाभिजाति, नीलाभिजाति, लोहिताभिजाति, हरिद्राभिजाति, शुक्लाभिजाति, परमशुक्लाभिजाति ३२०
अरहतपूजा १४८
अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) १८, ३७४
अर्धफालक (वस्त्र का आधा टुकड़ा) १३०, ४५६
अर्धफालक (साधु, संघ, सम्प्रदाय) ३७३, ३७७, ३७८–३८८, ४११, ४१२, ४३२, ४५७, ४६०–४६२, ४६४, ५२०
अर्धफालकतीर्थ-प्रवर्तन ४६१, ४६२
अर्धफालकधारियों का श्वेताम्बरीकरण ४६४
अर्धगामधी आगम (साहित्य) १२
अर्धमागधीकरण ५८१, ५८२
अरिहन् २९९
अर्हतायतन १४८
अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म १४८
अर्हदायतन १४८, ३८९
अर्हद्बलि (एकांगधारी) १३२
अर्हद्भक्त १४८
अलका श्रेष्ठिनी ३७३–३७५
अलौकिक वस्त्र ९९, १००, १०२
अल्तेम-अभिलेख ३९०
अवधूत संन्यासी २७६, २७९
अवमचेल (द्विवस्त्रधारी) १६२, १६३
अविमारक (भासकृत नाटक) २६०
अवैदिक (श्रमण, दिगम्बरमुनि) २६१
अशुभकर्म-निर्मूलन (जाबालोपनिषद्) २७७, २७८
अशोक-स्तम्भलेख ६५
अश्वघोष (बौद्धकवि) २५१
अश्वेत भिक्षु ५६
असभ्यावयव-गोपन ३६१
अहरिष्टि-श्रमणसंघ ३९०
अहिरिका निगण्ठा (अह्रीक = निर्लज्ज निर्ग्रन्थ) १४०, ३१०, ३११, ३१२, ३१४
अह्रीक १०६, ३१२

आ

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, खण्ड २ (मुनि नगराज जी) १०४, १७४
आगमवाचना (श्वे. संघ)—
प्रथम—पाटलिपुत्र ४२०
द्वितीय—कुमारीपर्वत (कलिंग) ४२२
तृतीय—मथुरा ४२२
चतुर्थ—वल्लभी ४२२
आग्नीध्र २६२
आचारांग ८४, ९३–९५, ९९, १०१, १२५, १२६, १६२, १६३, १६५, १६७, २१३, २२६, ४८०, ५८४
—शीलांकाचार्यवृत्ति १००, १२५, १२६, १६२, १६३, १६६–१६९, २०९, २१३
आचेलक्य ७, १५५, १६१, १७६
आजीविक, आजीवक सम्प्रदाय (प्रवर्तक—मक्खलिगोशाल) २०, ३०१–३०८, ३१५, ३१७, ३२४

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आजीवकिनियाँ (आजीविक सम्प्रदाय की साध्वियाँ या स्त्रियाँ) ३२०, ३२२
आजीविकों का आचार ३२५-३२९
आदिनाथ (हठयोगविद्योपदेष्टा) २८१, ३९५
आदिपुराण २५०, ३९५, ५८४
आपुलीय (आपुली) संघ (यापनीयसंघ) ४९४
आयागपट्ट ४११
आर्य (एलक) २८९
आर्यलिंगधारी (एलक) २८९
आर्यकृष्ण (बोटिक शिवभूति के गुरु) ३८, ४३, ११८, ११९, २२५, ३८३, ४७७
आर्यरक्षित (श्वे. आचार्य) ९७, ३७०
आर्यशूर (जातकमालाकार) ३५१, ३५२
आर्यिका रात्रिमति-कन्ति ५०६
आर्हत (जैन) १४७, १४८, २६८, २८२, २८६
आर्हतानुशासन (जैनमत) २९४
आलापपद्धति १५९
आवश्यकचूर्णि ३३, ४६
आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु-द्वितीय, श्वे.) २०, २१, ४६, १५६, ३६२, ३६३
—हारिभद्रीयवृत्ति २१, ३७, ४४, ४८, ५७, ६०
आवश्यकमूलभाष्य ४, २०, २१, ४६, ११५
आशाम्बर (दिगम्बर) २०
आश्वलायनगृह्यसूत्र २५१
Aspects of Jainology
—Vol. II ३२, ४३, ५१

इ

Indus Valley Civiligation (Cambridge History of India, 1953) : Sir Mortimer Wheeler ४००, ४४१
इण्डस वेली सिविलिजेशन एण्ड ऋषभदेव : वी.जी. नैयर ४०३
इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (The Indian Antiquary) Vol. XX, October, 1891) ३६६
Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, No. 250 ३९६
इन्द्रिय-यापनीय ५०१

ई

ईचवाडि (मैसूर)-अभिलेख ५६६
ईशाद्यष्टोत्तर-शतोपनिषद् २११, २७८

उ

उग्रसेन (कृष्णमाता देवकी के पिता) ३७४
उज्जयिनी नगरी ४५९, ४६०, ४६२, ४६४
उड़ीसा ४७४
उत्तङ्क (महाभारतोल्लिखित ब्रह्मर्षि) २५५, २५६
उत्तमसंहननधारी १०१
उत्तरपुराण (गुणभद्र) ३७५, ५५२
उत्तरभारत में जैनधर्म (चिमनलाल जैचंद शाह) ५८, ३७१, ३७९, ४०७, ४६८
उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ (परम्परा, सम्प्रदाय) ४, ११, १२, ८०, ८३, १०६-१०८, ११०, ११४, ११५, १५१, ३८३, ४७५ (उत्तर का निर्ग्रन्थ-संघ), ४९१, ५५८,
उत्तरा (बोटिक शिवभूत की बहिन) २५, २७
उत्तराध्ययनसूत्र १९, ८४, १२६, १६०, १६४, ३२४, ५७७, ५७९

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उदयगिरि (विदिशा, म० प्र०) ४१२
— पार्श्वनाथप्रतिमा ४१२
उदयनाचार्य (न्यायकुसुमांजलि-कार) २९२
उदानपालि (बौद्धग्रन्थ) ३१९, ३२२-३२४
उद्योतनसूरि (श्वे०) ५१५, ५२२
उपचरित नग्न १९२
उपचरित (गौण) शब्द १९२, १९३, १९७, १९९
उपचरित (गौण) अर्थ १९४
उपचार १९२, १९३, १९७, १९९
उपधि २४, २६
उमास्वाति ९
उरनूर (एक स्थान) ३८९, ५५५

ऊ

ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) ३६६
ऊर्जयन्तगिरि-विवाद ३६४, ३६५

ऋ

ऋग्वेद १८, २४३, २४५
— सायणभाष्य २४५
ऋद्धिप्रतिहार्य-प्रदर्शन ३३८
ऋषभ (देव) १८, ३९६-३९८
ऋषभनाथ की सवस्त्र-प्रतिमा (श्वे०) ४१५

ए

एकशाटक (एकसाटक) ४८१
एकशाटक सम्प्रदाय १६३, ३२०, ३२२, ३२३
एकशाटी (एकसाटी = एकसाड़ीधारिणी = आर्यिका) ३४८, ३५०
एकसम्बी (बेलगाँव, मैसूर)-अभिलेख ५६३
ए० चक्रवर्ती नयनार (प्रोफेसर) ७०
ए० एन० उपाध्ये (आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ०, प्रो०) ६२, ७५, ४३४, ४९९, ५०४
एरेगित्तूगण-पुलिकल्गच्छ ५६२
एलक २८७-२८९
एलोरा की बाहुबली-प्रतिमा ४१२

ऐ

ऐर (आर्य) ५३६, ५३७
ऐलवंशज ५३७, ५३८

ओ

ओदातवसन (अवदातवसन = श्वेतवस्त्रधारी श्रावक) ३१२, ३२०, ३२४, ३२५, ३३७

क

कंस (मथुराधिप) ३७४, ३७६
कांस्य जिनप्रतिमा ४१०
कंकालीटीला (मथुरा) ३६८, ३७१, ३७२, ४३२
कटवप्र ७१
कटिवस्त्र, कटिपट्ट कटिबन्ध, (चोलपट्ट) १७, ९८, ३७०
कड़ब (कड़प) दानपत्र (अभिलेख) ५६३, ५६५
कण्डूर् (काण्डूर, काडूर) गण ४९२, ५६५
कण्ह (कृष्ण) ३७०, ३७९
कण्ह श्रमण ३७७, ३७८, ३७९
कदम्बवंश १४१
कनकपुर ५२७
कनकोपलसम्भूत-वृक्षमूलगण (यापनीय) ३९०, ५७०
कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्किओलॉजी मथुरा ३९५
कर्मवाद (कर्मसिद्धान्त) २९९
कर्मसंन्यासी २७८
कलिंगजिन-प्रतिमा ४०५-४०८, ५२९

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कलिंगदेश ४०८
कल्प (साधुओं का आचार) ८४, १५५, १६१
कल्पनिर्युक्ति (कल्पसूत्रनिर्युक्ति) ८४, १०२, १५५
कल्पसूत्र ३७५, ४७६
— कल्पकौमुदीटीका १६१
— कल्पलताव्याख्या २३, ५५
— स्थविरावली (थेरावली) ३७१, ३७२, ४६७, ४७६
कल्याणनगर ४८९, ४९२
कल्याणविजय (श्वे० मुनि) ३, ४, २०, २८-३१, ६०, ६१, ६४, ६७, ७६, ७७, ९६-९८, ३०१, ३१९, ३२१, ३२३, ३२४, ३२९, ३३०, ३३३, ३५१, ३५२, ३६९, ४४५, ५२६, ५३१, ५४०, ५५६
कल्लूरगुड्डु-अभिलेख ५६६
कसायपाहुड (कषायप्राभृत) १०, २२३
— चूर्णिसूत्र १०, ११
कस्तूरमल बाँठिया ४५२
कहान जी (श्वे. मुनि, पश्चात् दि. श्रावक) १३७
काडूरगण ५६५
काणूर (क्राणूर) गण ४२९, ४३३, ५६५, ५६६
कादम्बरी (बाणभट्ट) १९, २८२
कान्तिसागर मुनि (श्वे.) ३९४, ४३०
कापालिक (सरजस्क) २९४
कापिल २८२
कामताप्रसाद जैन (बाबू) ३१०, ३२१, ३२९, ५२६, ५३१
काम्बलतीर्थ, काम्बलिकतीर्थ (श्वेताम्बर सम्प्रदाय) ४५३, ४५६, ४५७
कायनिषीदी ५१७
कायनैषेधिकी ५२३
कायनिसीदी ५२३
कायोत्सर्गध्यानमुद्रा ३९५
कायोत्सर्गमुद्रा ३९५
कारकल-बाहुबली-प्रतिमा ४१२
कालग्रहण २६
कालद्रव्य ५०६
काललब्धि ३८१
कालवङ्गग्राम १४१
कालिदास २६०
कालिदास-तिथिसंशुद्धि (डॉ० रामचन्द्र तिवारी) २६१
काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) १९०, १९१, १९४
काव्यानुशासन-स्वोपज्ञटीका १९१, १९४
काव्यप्रकाश (मम्मट) १९३, १९५
काशिक-पंचस्तूपान्वय ६५
काशीप्रसाद जायसवाल (डॉ०) ७६, ४०३, ४०५, ४०९, ४१०, ४२७, ५१९, ५२०, ५५३, ५५४
काश्यपगोत्रीय गोदास (भद्रबाहु के शिष्य) ४७६
काष्ठासंघ ४९, ७९, ४३४, ५१३, ५७२
कित्याचार्य (यापनीय) ५६५
कीथ (Keith) ए. बी. ४४८
कुटीचक संन्यासी २७९
कुण्डपुर (कुण्डग्राम) ३३१
कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु (धम्मपद-अट्ठकथा) ३४६, ३४७

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कुन्दकुन्द आचार्य ४, ९, ३०, ३१, ३८, ६०–७०, ७४, ८१, ८२, १३२, २३१, ४७३
कुन्दकुन्दान्वय ४९२, ५६६
कुमरगिरि-कुमारीगिरि (खण्डगिरि-उदयगिरि) ४०५, ५१७
कुमारगुप्त (गुप्तसम्राट्) ४१२
कुमारनन्दी भट्टारक ९
कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव ९
कुमुदिगण ५६४
कुमुलिगण ५६४
कुम्भजातक (जातकमाला) ३५१
कुवलयमाला (उद्योतनसूरि, श्वे०) ५१५
कुशचीर ३१८
कुषाणकालीन जिनप्रतिमाएँ १८
कूर्चक (एक जैन सम्प्रदाय) ६४, १०७, ११४, १४१, ३८९, ५५६, ५५७, ५७०
कूर्मपुराण २८७
कृश सांकृत्य (किसो सङ्किच्चो) ३२६, ३२७
कृष्णजन्म ३७४, ३७५
केवलिभुक्ति (कवलाहार) ५३, ४५८, ५७२
केवलिभुक्तिनिषेध ५४
केवलिभुक्तिप्रकरण (पाल्यकीर्तिशाकटायन) ४८६, ५७५
केशलुंचन २८२
केशी २४३, २४५, २४६
केशी-गौतम (संवाद) ८४
कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ३३८
Cambridge History of India 1953, plate XXIII ४०३
कैलाशचन्द्र शास्त्री (पं०) ५६, ७१, ७३, १०१, १८३, २७१, २७२, ३३१, ३८०, ४६६, ४६७, ५८०
कैवल्य २४२
कोङ्गणिवर्मा (महाधिराज) ५६२
कोटिवर्षीया (गोदासगण की शाखा) ४११, ४७६
कोट्टिकगण ३७२, ४११
कोल्हापुर-मंगलवारपेठ-मन्दिर-अभिलेख ५६४
कोषकल्पतरु २५४
कौटिल्य (अर्थशास्त्रकार) २५८
कौण्डिन्य-कोट्टवीर २२, ५८ ६०
कौपीन १२९
क्राणूर् (काणूर्) गण (दिगम्बरसंघ) ४९२, ५६५
क्लिष्ट कल्पना (क्षु० जिनेन्द्र वर्णी) ग्रन्थसार—पृष्ठ : छियानवे
क्षपण (खमण, खवण = दिगम्बर जैन मुनि) २५३, २५४, २९८, ३६४
क्षपणक, नग्नक्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि) १९, २२, २५२ (व्युत्पत्ति), २५३–२५९, २६९, २८२, २९३–२९६
क्षपणकविहार २५९
क्षारवेल (खारवेल) ५२३
क्षुनदेव (शिश्नदेव) ४०२
क्षुल्लक २८९, ४७२
क्षेमकीर्ति (श्वे० आचार्य) १७७, १८८

ख

खण्डगिरि-उदयगिरि (कुमरगिरि-कुमारी-गिरि) ४०५, ५२८
खण्डचेलक (एलक) २८९
खण्डहरों का वैभव (मुनि कान्तिसागर) ३९४

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

खमण (क्षपण, क्षपणक) : देखिये 'क्षपण'।
खमण पासंडी (दिगम्बरमुनि) ३६४
खरा सो मेरा (डॉ० सुदीप जैन) ५८२
खारवेल, खारवेलसिरी (जैनसम्राट्) ४०५, ४२४-४२८, ५१७, ५२३-५२६, ५३७-५३९
खारवेल (राजा) और उसका वंश (लेख—मुनि कल्याणविजय जी) ५२६
खारवेल (राजा) और उसका वंश (लेख—बाबू कामताप्रसाद) ५३१
खारवेल (राजा) और हिमवन्त थेरावली (लेख—मुनि कल्याण-विजय जी) ५४०
खारवेल (चक्रवर्ती) और हिमवन्त थेरावली (लेख—काशीप्रसाद जायसवाल) ५५४
खारवेल-प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता (काशीप्रसाद जायसवाल) ४०५
खारवेल-प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन (चन्द्र-कान्तबाली, शास्त्री) ४०५, ५२३, ५२५
खुद्दकनिकाय (बौद्ध पिटकसाहित्य का एक भाग) ३१३, ३४०
खुशरो नौशेरवाँ २५८

ग

गगनपरिधान २७३
गणधर (आचार्य) ४५७
गणभेद (ग्रन्थ) ५०९
गण्डादित्य, गण्डरादित्य (राजा) ५०६
गन्धधूपसुमनोदीप (पूजा द्रव्य) १४२
गुच्छक २६
गुणधर (आचार्य) १३२
गुणभद्र (आचार्य) १३२, ३७५
गुणरत्नसूरि (षट्दर्शनसमुच्चय-टीकाकार) ४९, ४८६
गुणस्थानविकासवाद (वादी) ११
गुणस्थानसिद्धान्त ११
गुप्तकालीन जिनप्रतिमाएँ १८, ४१२
गुफा-अभिलेख (तमिलनाडु) ४७८
गुरुपरम्परा से प्राप्त दि० जैन आगम : एक इतिहास १३३, १३७
गुलाबचन्द्र चौधरी (डॉ०) ४७, ७५, ४३४, ५६४
गिही ओदातवसन अचेलसावक (नग्न निर्ग्रन्थों के श्वेतवस्त्रधारी श्रावक—अंगुत्तरनिकाय) ३१२
गुहनन्दी (आचार्य) ६५, १४२
गृध्रपिच्छ (आचार्य, तत्त्वार्थसूत्रकार) १०, १३२
गृही-पात्र ४७५
गोकुल ३७४
गोदास ४७६
गोदासगण ४११, ४७६
गोदासगण का अभिलेख (दक्षिण भारत में) ४७६
गोदासगण की चार शाखाएँ ४७६
गोपांचल ४७७
गोप्यसंघ (यापनीयसंघ) ४९, ५०, ४७७, ४८५, ५६०, ५७२
गोम्मटसार १३७
गोवर्धन (श्रुतकेवली) १३२, ४४७
ग्रन्थ (परिग्रह) ७, १३८, १३९ (आभ्यन्तर, बाह्य)

च

चक्रधरभिक्षु ५६
चण्डराय (राजा) ५२७

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चन्द्रकान्त बाली शास्त्री ४०५
चन्द्रक्षान्त मुनि (कूर्चक) ३९०
चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट्) ६३, ७१, ४०७, ४५३, ४५९, ४७४
चन्द्रनन्द्याचार्य (दिगम्बर) ५५५
चन्द्रलेखा रानी (अर्धफालकसंघ की शिष्या) ४६०
चमरीबाल-पिच्छिका ४९
चाणक्यशतक १८, २५७
चातुर्मास ५६
चातुर्यामसंवरसंवृत ३१६
चामुण्डराय (गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री) ४१२
चार्वाकमत २६८
चिक्कमागड़ि-वसवण्णमन्दिर-स्तम्भलेख ४२८, ४३३, ४३४
चिमनलाल जैचंदशाह ३७१, ३७९
चीवर १२९
चुल्लपट्टक (कटिवस्त्र, श्वे० साधु) ३७०
चूलकालिङ्गजातकवण्णना (जातक अट्ठ-कथा) ३३४
चूळसच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, भा.१) ३३०, ३३२, ३३३
चेटवंश ५२६, ५२७
चेदिराष्ट्र ५३७, ५३८
चेदिवंश ५२६, ५२७
चेलखण्डधर (एलक) २८८, २८९
चेलपरिवेष्टिताङ्ग १४४
चोलपट्ट १७, ८७, १६४, ३७२

छ

छलवाद ४४५
छळभिजातसुत्त (अंगुत्तरनिकाय) ३२०, ३२४, ३३०
छह अभिजातियाँ (मनुष्यों की)—तृष्णा-भिजाति, नीलाभिजाति, लोहिताभिजाति हरिद्राभिजाति, शुक्लाभिजाति, परम-शुक्लाभिजाति ३२०
छेदपिण्ड (छेदपिण्डप्रायश्चित्त)१०
छेदशास्त्र १०

ज

जटिल (एक सम्प्रदाय) ३२२
जड़योग २७६
जनमेजय (परीक्षितपुत्र, महाभारत) २५६
जम्बूस्वामी २४, २७, ९४, १०६, १३२, ४४६, ४४७, ४६३, ५१४
जम्बूस्वामि-निर्वाणानन्तर व्युच्छिन्न हुयीं मनुष्य की दस योग्यताएँ ४४८, ४४९
जयधवलाटीका ३३१
जयभगवान एडवोकेट ३९८
जयन्तभट्ट (न्यायमंजरीकार) २९२
जयसेन आचार्य १३२
जरासन्ध (मगधनरेश) ३७४
जलपवित्र (पानी छानने का वस्त्र) २७७
जातक-अट्ठकथा ३३४
जातकपाळि ३११
जातकमाला (बौद्ध आर्यशूर) ३५१
जातरूप, जातरूपधर २११
जापुलिसंघ (यापनीयसंघ) ५१०
जाबालोपनिषद् २७७
जावलिगेय ५१०
जिनकल्प (सचेल, श्वेताम्बरीय) ६, १७, ३९, ८६, ९१, १०२, १०३

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जिनकल्प (दिगम्बर अचेललिंग का श्वेताम्बराचार्यों एवं बृहत्प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा किया गया नामकरण) ६, २४, ३८-४०, ७३, ९४- ९६, ९९, १००, १०१, १०३, १०४
जिनकल्पिक-उपकरण (उपधि—श्वे०) २४, ८६-८९
जिनकल्पिक साधु (श्वे०) २४, २६, ८६, ९०, १०१, १०२
जिनकल्प-व्युच्छेद ८७, ९४
जिनकल्प-स्थविरकल्प (दिगम्बरमान्य) ८५
जिनकल्प-स्थविरकल्प (श्वेताम्बरमान्य) ८६-९३
जिनकल्प-स्थविरकल्प-भेदोत्पादन ४५५
जिनचन्द्र प्रथम (दि० आचार्य) ४
जिनचन्द्र (श्वे० आचार्य) ११५, ४५८, ४६०
जिनदास श्रेष्ठी ४८९
जिननन्दी आचार्य (यापनीय) ३९०
जिनपूजाद्रव्य १४२
जिनपूजाविधि ४३१
जिनप्रतिमा जिनसारिसी ३८७, ४१८
जिनबिम्ब (श्वेताम्बरमान्य) ३६८
जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ३, १७, ९५, १०६, १५६, १७५, १७७, १८०, ३५९
जिनभाषित (मासिक पत्र) ३८६
जिनमत १४७
जिनविजय (श्वे० मुनि) ३६७, ३७१, ५१७, ५५२, ५५४
जिनशासन १४७
जिनसेन आचार्य (आदिपुराणकार) १३२
जिनागमों की मूलभाषा ५८२
जिनेन्द्रदेवता १४१
जिनेन्द्र वर्णी, क्षुल्लक—ग्रन्थसार पृष्ठ : छियानवे (क्लिष्ट कल्पना)
जिनेश्वर (मोहेन-जो-दड़ो की मृन्मुद्रा पर) ३९६
जीतकल्पभाष्य (जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण) ८४, १६१
जीवक कौमारभृत्य (वैद्य) ३१५
जीवन्तस्वामी-प्रतिमा (श्वे०) ४१४, ४३२
जुगलकिशोर मुख्तार (पं०) ५२६, ५३१, ५३८, ५४०
जैकोबी (हर्मन, डॉ०) ३२३, ३२४, ४६६, ५१५
जैन १४७, २८२, २८६
जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा (देवेन्द्रमुनि शास्त्री) ४५, ४६, ५८, १७२, ४५१, ४६८
जैनदर्शन (इस शब्द की निरुक्ति) १४७
जैनधर्म और दर्शन (मुनि प्रमाणसागर) ३९६-३९८
जैनधर्म का मौलिक इतिहास (आचार्य हस्तीमल)
— (भाग २) ५८, १३६, ४२९, ४३१
— (भाग ३) ९३, ४१६, ४१७, ४२१, ४२४, ४२६, ४२९, ४९४
जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय (डॉ० सागरमल जैन) १०-१२, ३२-३४, ५६, ५९, ७४, ८१-८४, १११-११३, ३७९, ३८१-३८४, ४३५, ४६९-४७३, ४८२, ४९४, ५००, ५९५, ५७०-५७२, ५७४, ५८०, ५८२, ५८६, ५९०

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जैनधर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा (डॉ० सागरमल जैन) ७४, ८४, १०९, १११, ११६, ४११, ४३१, ४३६, ४७४, ४७६, ४८०, ४८१, ५७३
जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (श्वे० साध्वी संघमित्रा) ९४, ४५२
जैनमूर्तिकला ३७१
जैन शिलालेख संग्रह (मा.च.)
— (भाग १) ६३, ४५३
— (भाग २) ६५, १४१, १४८, ३००, ३३१, ३९०, ४३४, ४३६, ४९९, ५६२, ५६३, ५६५-५६७
— (भाग ३) ७५, १४३, ४२९, ४३४, ५५६, ५६४, २९०, २९३, ४६३, ४६४
— (भाग ४ / भा. ज्ञा.) ६५, १४२, ४३३, ५६३, ५६५-५६७
जैनश्रमण की प्रतिमा (अर्धफालक साधु की प्रतिमा) ४७५
जैनसन्देश (शोधांक ३३) ३७३
जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी)
— प्रथम संस्करण ३६६, ३६७, ५७६, ५७९, ५८६, ५८७
— द्वितीय संस्करण ५५
जैन साहित्य का इतिहास (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री)—पूर्वपीठिका ७३, ७४, १०१, १८३, २४८, २७२, ३०७, ३३२, ३७१, ३८०, ३९६, ४०९, ४४७, ४५०, ४५१, ४६२, ४६७, ५७७
जैनसाहित्य का इतिहास (गुजराती) ४५०
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ (डॉ० मोहनलाल मेहता) २०
जैन साहित्य में विकार (पं० बेचरदास) ४२, ५८, १०२, १०४, १०५, ४५०
जैनसिद्धान्त भास्कर (मासिक पत्र) ३८०
जैनाभास (गोपुच्छक आदि पाँच) ३८६
जैनिज्म इन अरली मीडिएवल कर्नाटक (रामभूषणप्रसाद) ४१६
जैनेन्द्र व्याकरण (पूज्यपाद देवनन्दी) ६५
जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग १) ग्रन्थसार—पृष्ठ : सत्तानवे, २८८
जैनोपदेश १४७
जोइंदुदेव (योगीन्दुदेव) २५३
जोहरापुरकर (विद्याधर, डॉ०, प्रो०) १४२
ज्ञाता-(ज्ञातृ)-धर्मकथांग ५०७
ज्ञानसंन्यासी २७८
ज्ञानवैराग्यसंन्यासी २७८
ज्ञानसागर (आचार्य) १३२
ज्ञानसागर (उपाध्याय) १३३, ४७४
ज्ञानार्णव २२०
ज्योतिप्रसाद जैन (डॉ०) ३७३, ३७७, ४०६

ट

टी० एन० रामचन्द्रन् ३९८, ३९९, ४३७, ४४२

ड

डॉयलॉग्ज आफ् बुद्ध ३१०
डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ ५५८, ५६३, ५६७

ण

णाह, णाय, णात कुल (नाथकुल—महावीर का वंश) ३३१
णमोकार महामन्त्र १४७

त

तक्षक (नागराज—महाभारत) २५५

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in